आचार्य रामदेव त्रिपाठी

म
न
का

(स्वप्नाभिसार)

मनका
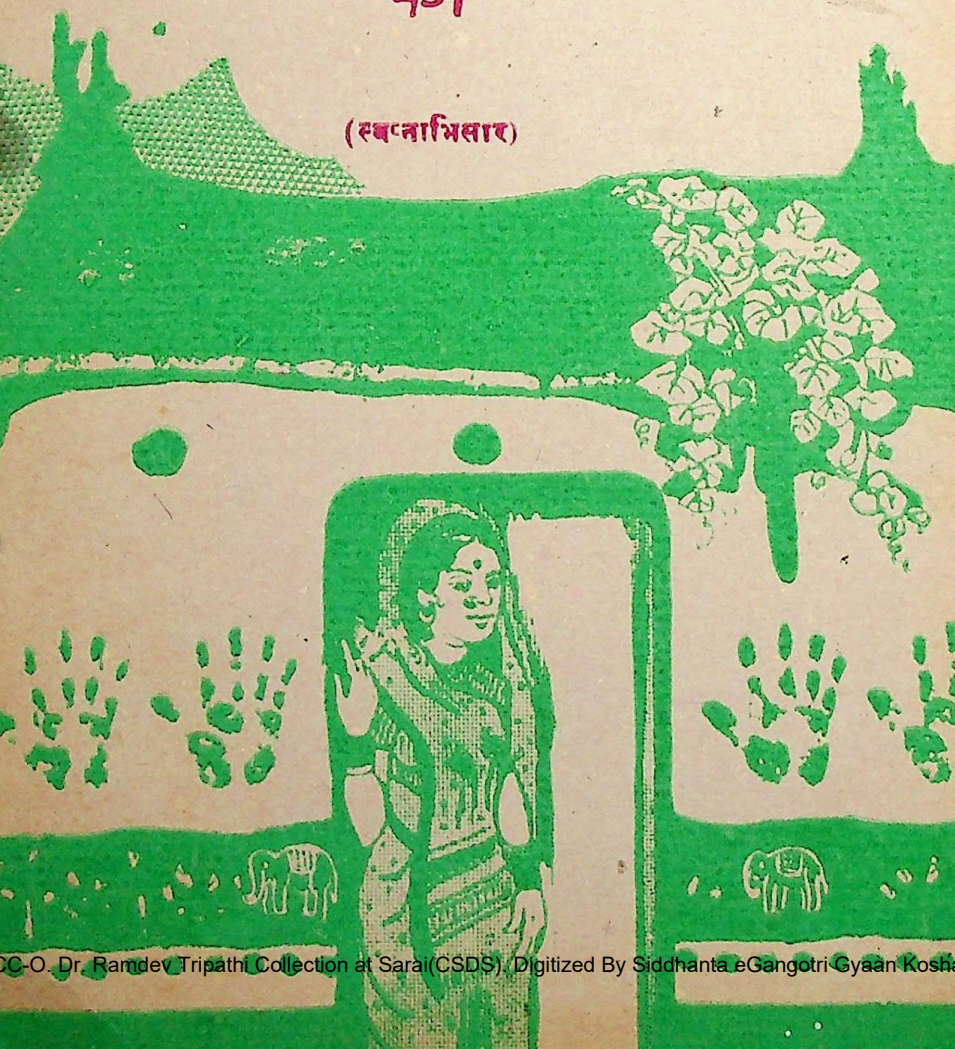
(स्वप्नाभिसार)

मनका

(प्रेम और भक्ति की कविताएँ)

आचार्य रामदेव त्रिपाठी

शान्ता प्रकाशन

घाघा घाट पथ, महेन्द्रू, पटना-६

स्नक्का : प्रेम और भक्ति की कविताएँ

कवि : (डॉ०) आचार्य रामदेव त्रिपाठी,
व्याकरण साहित्याचार्य, न्यायशास्त्री
एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), डी० लिट्
पूर्व प्राचार्य, नेतरहाट विद्यालय, नेतरहाट (बिहार)

संस्करण : प्रथम, सितम्बर, १९८९

मूल्य : पच्चीस रुपये मात्र

प्रकाशक :
शान्ता प्रकाशन
घाघा घाट पथ, महेन्द्रू,
पटना-८००००६

मुद्रक :
फोटो प्रिन्टर्स, महेन्द्रू, पटना-६

पीठिका

मानव का मस्तिष्क अनन्त कुशलताओं, संभावनाओं का भाण्डागार होता है। बाह्य परिवेष, प्रेरणा, प्रोत्साहन जिन बीजों के अनुकूल पड़ते हैं, वे स्फुटित; अंकुरित, पल्लवित पुष्पित हो पाते हैं, शेष बीज क्रमशः म्लान, शुष्क, नष्ट हो जाते हैं। गुरुकुल में पढ़ते समय जितने विषयों की शिक्षा मुझे प्राप्त हुई, उतने विषयों में मेरा मन रम गया। लगता था, सब मैं पूर्वजन्मों से ही करता आ रहा हूँ। किशोरावस्था में मैंने अनेक समारोहों में मौखिक संगीत, वाद्य संगीत का, लाठी, भाला, छूरा एवं गदा के युद्ध का, धनुर्विद्या का; वक्तृता, समस्यापूर्त्ति, शास्त्रार्थ और वाद-प्रतियोगिता का प्रदर्शन किया। गुरुकुल में सब की दृष्टियों का आकर्षण केन्द्र मैं ही बन गया। मेरे रामरजी अधोवस्त्र और उत्तरीय तथा पलाश के डंडे को देख लोग मुझे लघु शंकराचार्य कहने लगे। पर मेरे पिताजी[1] के एक मित्र ने मुझे देखकर उनसे कहा—'आपके इस पुत्र की प्रतिभा की धारा अनेक दिशाओं में बँट कर सूख जाएगी, इसे किसी एक दिशा में ही ले जाइये।' फलतः पिताजी ने मेरी सारी गतिविधियों पर रोक लगाकर मुझे व्याकरण की ही ओर मोड़ दिया। पिता की भाँति अग्रज[2] भी मूलतः वैयाकरण ही थे। हम दोनों भाई उनके ही शिष्य थे। किन्तु भैया में वेदान्ताचार्य भी कर लेने के अनन्तर न्याय, विशेषतः नव्य न्याय के अध्ययन की उत्कट अभिलाषा जगी, जो आजीवन अपूर्ण रह गई। परिणामस्वरूप उन्होंने क्षतिपूर्ति के लिए मेरे व्याकरण-वृक्ष में अपने न्याय की भी कलम लगा दी। हाँ, अपनी वेदान्त, आयुर्वेद, कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र और ज्यौतिष का गँठबन्धन वे मेरे व्याकरण-न्याय के साथ करने में असमर्थ रहे। सुना है, आज के वनस्पति शास्त्री एक ही वृक्ष में तीन चार भी फल या फूल लगा लेने में समर्थ हो चुके हैं। अस्तु, मैं सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र तो नहीं बन सका; किन्तु व्याकरण और न्याय के साथ साहित्य का तो संगम हो ही गया, त्रिवेणी पूरी हो गई। और वैयाकरण को कवित्व का प्रतिरोधक तत्त्व मानना भी संगत नहीं। वैयाकरणों की सारी रचनाएँ "**शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे**" ही नहीं हो जातीं। भट्टि ने केवल "**सोऽध्यैष्ट वेदाँस्त्रिदशानयष्ट, पितॄनताप्सीत् सममँस्त बन्धून्**" ही नहीं लिखा है। आप वैयाकरणों को "**काष्ठ कुड्याश्म सन्निभ**"

---

1. पं० गणेशदत्त शर्मा व्याकरण साहित्याचार्य; प्राचार्य, धर्मसमाज सं० महाविद्यालय, मोतिहारी।
2. पं० वेदप्रकाश त्रिपाठी, व्याकरण साहित्य वेदान्त धर्मशास्त्र आयुर्वेदाचार्य; प्राचार्य, धर्मसमाज सं० विद्यालय, मुजफ्फरपुर।

कह लें, किन्तु भट्टि ने तो पेड़ों का भी रोना देखा है। **"उपारुरोदेव नदत्पतंगः कुमुद्वतीं तोरतरुर्दिनादौ"**। भोज के **"मुसल किसलयं ते तत् क्षणाद् यत्र जातम्"** के वितर्क के समाधान में कालिदास ने केवल 'काष्ठता' को ही पर्याप्त नहीं मान कर कहा है – **"तदपि च किल सत्यं कानने वर्धितोऽसि"**। आरण्यक तो मानव भी कठोर हो जाते हैं। काठ से भी भूकदली पनक जाती है। कुड्य में भी प्रच्छन्न बीज अंकुरित पल्लवित हो जाते हैं। और जलद भी तो अश्मा ही न हैं। वैयाकरणशिरोमणि पाणिनि ने उन्हें भी रोते देखा है—**"धारा-निपातैः सह किन्तु वान्तः चन्द्रोयमित्यार्ततरं ररास"**। क्या महानों के स्पर्श से अश्मा में देवत्व का विकास नहीं हो जाता! भवभूति के लक्ष्मण का **"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"** कथन क्या अलीक है? कहते हैं स्वयं भवभूति की कविता से **"जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा, ग्रावाप्यरोदीत्...."**, ...**"रोदिति ग्रावा"**। पसीजते पत्थर भी हैं। क्या नदियाँ पर्वतों की पसीजन ही नहीं! आखिर सच्चिदानन्दमय विश्व का कोई भी कण चित् अंश से सर्वथा शून्य हो कैसे सकता है? श्री हर्ष ने ठीक कहा है, वैदुष्य के साथ भी रसिकता का समन्वय सम्भव है, **"शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भांकुरैरास्तृता, भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर् योषिताम्"**। वस्तुतः कवि-निर्मिति **"नियतिकृत नियम रहिता"** होती है।

जो भी हो, मुझ में गीत गाने की जो जन्मजात रुचि थी, उसने अपनी मूल दिशा में अवरोध पाकर भी गीत जोड़ने, कविता बनाने की दिशा में अंकुरण आरम्भ कर दिया। गुलाब की भाँति सब कवि-प्रतिभाएँ भी समानस्तरीय सुगन्ध, रूप, रंग, आकर्षकता, महत्ता वाली तो नहीं ही होती। कमल, धान, आम की कितनी जातियाँ होती हैं! परन्तु लोकहित, लोकसेवा सबसे हो जाती है। जनता-जनार्दन के भी तो अनेक स्तर हैं! इसीलिए मैंने भी जो कविताएँ बनाईं, उन्हें छपवा देने का साहस किया। 'स्वान्तः सुखाय' तो सब होती ही है, उन्हीं में से कुछ **"कान्ता संमिततयोपदेशयुजं"** भी निकल आती हैं। **"भिन्नरुचिर् हि लोकः"**, **"कालो ह्ययं निरवधिर् विपुला च पृथ्वी"**।

कविता लिखने की प्रेरणा मुझे भारत-भारती, जयद्रथ वध आदि से मिली, अतः मैं उसी लीक पर रह गया।

'चतुष्पथ', **'धर्मरथी'**, **'सुमिरन'** के बाद कविता के क्षेत्र में यह **'मनका'** मेरा चौथा कदम है। ऐसे भी मनके या मालाएँ होती हैं, जिनका प्रत्येक गुरिया या फूल न तो एक प्रकार का है, न एक आकार का। फिर भी एक सूत्र में

ग्रथित हो जाने के कारण इन गुरियों या फूलों की शोभा, महत्ता और उपयोग बढ़ जाता है। "अविद्यो वा सविद्यो वा स्थूलकाय: प्रशस्यते।" सुमिरन का काम तो पूरा चल ही जाता है, गले में धारण में भी सुविधा हो जाती है। यन्त्र-निर्मित पदार्थों के भी आकार-प्रकार सर्वथा तुल्य नहीं हो पाते। स्रष्टा की "बहु स्याम्" की मौज से बनी लोहित-शुक्ल-कृष्णा नवरसरुचिरा निर्मिति में तो ऐसी एकरूपता वांछित भी नहीं। शोभा स्थान-काल-दृष्टि-भेद से एकरूपता की भाँति बहुरूपता में भी होती हैं। पाँचों अंगुलियाँ बराबर कहाँ होती हैं!

श्री व्रजकिशोर मिश्र केवल मुद्रक, प्रकाशक ही नहीं, इंजीनियर के अतिरिक्त एक सफल कवि और कथाकार भी हैं। अत: उनके सहयोग के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। वे मेरे मित्र हैं, इसलिए उनसे सहायता लेने का मैं अधिकारी हूँ।

मेरी पत्नी श्रीमती शान्ता त्रिपाठी का यदि पद पद पर सहयोग नहीं मिलता, तो कविता लिखने की मनोभूमि ही नहीं बन पाती। अत: 'मनका' पर जितना मेरा अधिकार है, उतना ही उनका भी। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा मेरे बाल्य-मित्र हैं। बहुत कम लोग जानते होंगे कि वे केवल अध्यापक, कुशल वक्ता, काव्यशास्त्र तथा भाषा विज्ञान के पण्डित, बहुभाषाविद्, निबन्धकार, नाटककार ही नहीं, कवि भी हैं। किन्तु उन्होंने बचपन में ही इससे मुक्ति पा ली, मुझे यह भूत लगा रह गया। मैत्री के प्रथम दौर में हमारा पत्र-व्यवहार छन्दोबद्ध ही होता था। समीक्षक शर्मा जी ने मुझे अपनी "साहित्य समीक्षा"[1] उपहृत की है मैं उन्हें 'मनका' ही उपहृत कर रहा हूं। प्रेम के प्रतीक रूप में विनिमित वस्तुओं का मूल्य-वैषम्य नहीं देखा जाता। क्या कृष्ण ने जितना सुदामा को दिया, उतना वे उन्हें दे सके? दे सकते थे! प्रेम-मूर्त्ति कृष्ण पत्र-पुष्प से भी हर्षगद्गद हो जाते हैं।

—रामदेव त्रिपाठी

घाघा घाट पथ,
महेन्द्रू, पटना-६

दूरभाष : ५०३७३

---

1 प्रथम संस्करण, संवत् २००८, श्री अजन्ता प्रेस लि०, नयाटोला, पटना।

सूची

क्रम संख्या	कविता	पृष्ठ संख्या

ख्या	कविता	पृष्ठ संख्या

□

प्रिय मित्र

आचार्य श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा

को

सस्नेह

स्वप्नाभिसार

(१)

यदि ऐसे मादक सपने भी पाता जाऊँ,
सच कहता, वाडव-दाह विरह का सह लूँगा।

थक जाता जब लड़ता जीवन-संग्राम कठिन,
उस रूप-सुधा की एक घूँट पी लेता हूँ।
उल्लास, हास, मस्ती का रोना क्यों रोऊँ,
यह ही क्या कम है, जो अब भी जी लेता हूँ।
कुछ बचा स्नेह-सौरभ का है पाथेय अभी,
चिन्ता न करो, मैं कहीं अकेला रह लूँगा ॥

अवलोक सुधानिधि सरल जुड़ा लेना मानस,
है अरे! हस्तगत कौन इसे करने वाला?
कल्पना, आत्मरति चिरनिर्वृति का स्रोत अजर,
मलयानिल ही है मलय न क्लम हरने वाला।
दिन रात, दुःख सुख मेरे लिए सदृश दोनों,
कहने को कोई किन्तु सहारा गह लूँगा ॥

यह व्यथा अनिर्वचनीय मुझे भी लगती है,
औरों को ही नासमझ भला क्यों बतलाऊँ।
है एक गँवाता, एक विभूति कमाता है,
औरों को पाते देख विवश क्यों ललचाऊँ?
अपने ढंग से हर कोई रो गा लेता है,
मैं भी विनोद-हित कुछ सुन लूँगा, कह लूँगा ॥

तेरी मानस प्रतिमा कर साश्रु नयन मेरे,
जीवन-पथ करती सिक्त सुमन बरसाती है।
यह आँख-मिचौनी और बढ़ाती आतुरता;
छिपने वाले को अपनी खोज सुहाती है।
झिलमिल ही कोई भी तट दिखता रहे सदा,
युग युग प्रवाह में आशा के बल बह लूँगा ॥

उस सुषमा की प्यासी न हुई आँखें जिसकी,
हतभाग्य वही, हो गृही, वनी या संन्यासी।
स्मृति मोहकतर होती अनुभव से कहीं अधिक,
मदिरा उतनी ही स्वादु अधिक जितनी बासी।
यदि रूप दूरतर हट धूमिलतर हो जाए,
लेकर अरूप का ही अवलम्ब निबह लूँगा ॥

(२)

अहा ! मानस गगन में फिर आज चन्द्रानन उदित अविकल हुआ था !
खोज भी थी तीसरे के साथ की
कुछ सजग और दुराव भी था,
किन्तु आँखें चार करने का
अनाविल भाव भी था !
हास की बन्दी बनी किरणें पड़ी थीं,
घन-पटल-निभ मान-मण्डित हाव भी था।
अधर-किसलय दृढ निमीलित, अधोमुख थी दृष्टि व्रीडित,
पर छलकती लालसा उस में प्रबल थी।
ढूँढ़ एक न एक सच्चा सा बहाना,
सामने ही बने रहने की तृषा मन में अटल थी।
स्वप्न में भी क्या हमारा प्रणय-मिलन-प्रयास यह असफल हुआ था ? ॥१॥
यह अरे ! कैसा ज्वलन, अभिशाप है ?
आह ! मेरा या तुम्हारा पाप है ?
जन्म-जन्म इसी तरह हम रहे तृषित
निहारते प्रेयसि ! परस्पर,
ग्रीष्म की ऊष्मा निठुर क्या कभी
वर्षा से नहीं कुछ भी घटेगी ?
दिवस की आतप-व्यथा क्या, गोद से शीतल
निशा की सखि ! कभी न तनिक हटेगी ?
दुर्नियतिवश उफ़ ! हमारे ही लिए पीयूष-यूष गरल हुआ था ? ॥२॥
तुम न हो पर स्वप्न, चिन्तन है तुम्हारा,
स्मरण ही तेरा अधिक तुझ से सहारा।
मूकता तेरी रही दृढ़ अर्गला मेरी स्पृहा की,
डूबते को आज तेरा स्वप्न एक मिला किनारा

अमा-तम में द्युतित कैसे पूर्णिमा का अमृतनिधि-मण्डल हुआ था ॥३॥

है स्वप्न लोक ही मधुर निठुर इस जीवन से
निर्बाध जहाँ प्रेयसि ! हम तुम मिल पाते हैं ॥

लगता तुम रहती कहीं पुरी में परियों की,
स्वच्छन्द उतरकर धरती पर आ जाती हो।
रच इन्द्रजाल सब की आँखें भरमा देती,
मृदु हावों से चुप मुझे समीप बुलाती हो।
विरहातप की है दूर म्लानता हो जाती,
मुख-चन्द्रसुधा पी नयन अधर खिल जाते हैं ॥

तुम कैसी अभिसारिका वेश-निर्माण-निपुण,
नेपथ्य न केवल आकृति नई बदलती हो।
छलती चलती उत्सुक लख मुझे कनकमृग सी,
पा खिन्न पार्श्व में आ कर स्वयं मचलती हो।
दिन क्लीव शुष्क, रति-रीति बिचारा क्या जाने,
हम सरस निशा को दूती सखी बनाते हैं ॥

संतप्त हृदय को मधुर तृप्ति सहला देती,
चेतना अंक में तेरे किस सुख से सोती ?
चन्दन-मलयानिल-सुरभित ज्योत्स्ना सी शीतल,
तेरी समीपता कितनी आह्लादक होती।
निर्वाण, मोक्ष, गोलोक हेतु तरसे दुनिया,
हम तो सपने में अपना रास रचाते हैं ॥

अयि ! स्वप्नमयी तुम तो जब चाहो आ सकती,
किस भाँति किन्तु जब चाहूँ तुझे बुलाऊँ मैं।
हठ योग कौन सा साध तुम्हारे लिए प्रिये !
जीवन ही अपना स्वप्न-सरूप बनाऊँ मैं।
तुम हो अरूप, मैं बन्द रूप की कारा में,
पर अग्नि-लौह सम दोनों नेह निभाते हैं ॥

रजनी बासर चिर युग्म समाहृत द्वन्द्व बने,
संश्लिष्ट समानाधिकरण कभी न होते हैं।
रजनी रोती, वासर वियोग में जलता है,
युग युग से अपनी प्रणय व्यथा ये ढोते हैं।
आरक्तवदन क्षण भर आलिंगन सुख के हित,
संध्या से कह सुख-सेज निरर्थ सजाते हैं।

आज फिर वह दिव्य सुषमा स्वप्न में ही,
लोचनों को चिर-तृषित क्षण भर मिली थी।
एक नाटक देखने में मग्न मैं खोया हुआ था,
और था परिवार मेरे पार्श्व में ही साथ बैठा।
आ तभी भाई-बहन माता-पिता के साथ चुपचुप
जानकर अनजान सी वह अति निकट मेरे सम्हल कर
दे तनिक व्यवधान बैठ गई अलक्षित सहज विधि से।
उधर अभिनय मञ्च पर मेरी जमी थी दृष्टि उत्सुक
एक झटका सा इधर मन पर लगा यूँही अचानक,
छू गया हो तार बिजली का कहीं मानो बदन से
बाग कोई पकड़ रोके दौड़ते हयको झपट ज्यों
चेतना को खींचता हो प्रबल चुम्बक ज्यों कहीं से
कमल-मुकुल-कटाक्ष-कुन्त चुभा दृगों में सुखद सहसा;
और जो कब से न मेरी प्रीति-कलिका मरी, मुरझाई पड़ी थी,
अमृत कण पा अब स्वय तत्क्षण खिली थी ॥१॥

अरे! यह सुषमा वही, जिसने मुझे पागल बनाया है,
सुमिरता मैं आ रहा क्षणक्षण जिसे अनजान ही हूँ,
लोकलाज समाज से हो भीत जिसने,
जागते सोते सदा अवचेतना के अंक मे मेरे सदा मुझको लुभाया है।
अहा! जब आँख हमारी मिल हुई थीं चार
एक ईषत् स्मित चषक ने था उड़ेल दिया सुधामधु प्यार का संसार।
एक पल होकर निढाल, समस्त धीरज मृदुल अन्तर ने दिया का बार।
जन्म जन्मान्तर पिपासित आज नयनों की मिटी थी प्यास,
बढ़ गई थी या अभी पा एक घूँट उदास?

वही नाटक जो रहा था देख मैं सोल्लास,

बन गया अब एक निष्ठुर पाश, जो मैं काटने तिल तिल लगा सायास।
देखने को उधर प्रतिपल कनखियों से बावले,
धैर्य बन्धन तोड़ होते अधिक अधिक उतावले,
लोचनों को लोक-मर्यादा-महत्त्व बता रहा था,
दाँत भींच स्वयं उन्हें मैं शिष्टता का पाठ सजग पढ़ा रहा था,
किन्तु अपनी शिष्टता पर मैं स्वयं पछता रहा था।
अन्त नाटक का हुआ आखिर, उठा मैं लालसित पीछे मुड़ा, देखा बगल में,
छोड़ मेरे अबल अन्तर को इसी रस्साकशी में,
कब न जाने हाय! वह परिवार पूरा जा चुका था।
सभ्यता की ढोंग की मैं मार पूरी तरह मानों खा चुका था।

जगह वह सूनी सिसकती सी पड़ी थी,
कोसती मेरी समय पर चूक को, हत भाग्य को।
शिष्टता की यष्टि का ही पकड़ अब अवलम्ब,
साथ ले परिवार लौटा मूक सजलनयन भवन को,
करुण नाटक का प्रभाव सता रहा बस हो मुझे जैसे अभी तक।
मार्ग में देखा किनारे एक वह परिवार उत्सुक स्थिर खड़ा था,
ढूँढ़ता मानों किसी को भीड़ में आँखें पसार हजार,
देखते ही सब्र समझ मैंने लिया, किसकी वहाँ पर खोज आतुर हो रही थी,
आह! मैं कितना अविश्वासी अधम हूँ?
स्वाङ्ग धीरज का धरूँ पहले भले मैं,
मूर्खता कर बाद में रूठूँ उसी से?
वह कभी क्या छोड़ जाती यूँ मुझे रोते तड़पते?
वह विदग्धा भाँति किस मुग्धा बनी; माता पिता को
रोक कर किस विधि दिखा कर क्या बहाना,
चकित हरिणी-तुल्य उत्सुक राह मेरी जोहती थी?

वह सतृष्ण, सरल, व्यथित, जिज्ञासु आकृति
कह रही कुछ, कुछ छिपाती, प्यार बरसाती, रिझाती
आह! वह प्यासी युगों से विफल चितवन
साश्रु विनत, उलाहने देते स्तिमित साकूत लोचन!
फिर मिली आँखें, जुड़ाईं दम्पती सी,
अधर फड़का, हुई लाल कपोलपाली,
चन्द्रमुख से चन्द्रिका छिटकी निराली,
मधुर मेरी नींद टूट गई इसी क्षण, हर्ष के अतिरेक से
क्रूर मेरी नियति से न रहा गया; स्वप्न का भी मधुमिलन न सहा गया।

क्या न चिर साथी कभी फिर हम बनेंगे?
चिर-कुमार सदैव मैं, तुम चिरकुमारी
प्रेयसी तुम, और प्रियतम मात्र ही बस मैं रहूँगा?
देखते संसार का नाटक रहेंगे साथ दोनों,
चाहते ही किन्तु मिलना टूट जाएगा बिखर नाटक स्वयं ही
विश्व से आँखें चुरा ही मिल सकेंगे, जी सकेंगे?
निठुर यह अभिशाप कैसा? विमल सरके पास रहते
प्यास से मरते रहेंगे, किन्तु अंजलि में उठा पानी न जी भर पी सकेंगे?
खिन्न वह आकृति, विषाद-विदीर्ण मुद्रा,
क्या कभी ओझल दृगों से हो सकेगी?
चिर प्रणय से युगल अन्तरतम बँधे जो,
नियति उनको दूर रखने का सदैव कलंक निज क्या धो सकेगी?

"नहीं" तीव्र निषेध में इस साश्रु गरदन स्वयं अपनी ही हिली थी।।

□

मुसलिम बाला तू कौन ? स्वप्न में मेरे कैसे आई ?
जा रहा पकड़ने मैं था बस, घर दूर राह,
कैसे कितनी दुर्दम तुझ में जग गई चाह ?
कोठे से मुझे निहार बुलाया, आंखों से ललचाई ॥१॥

मैं भी डोरी से बँधा हुआ सा खिंच आया,
जो भी अखाद्य तुझ ने परसा बिन घिन खाया,
बिसरा अपना गन्तव्य, कामना तू ने नई जगाई ॥२॥

भ्रु धनु, कटाक्ष शर, शुक नासा, दृग इन्दीवर,
लावण्य-लता तन,ज्योत्स्ना स्मित,नव नलिन अधर।
क्या मेरे सम्मुख सुषमा की अनाघ्रात तरूणाई ?

तेरी तिलोत्तमा छवि शरीर की निरख विकल मन भूला,
मैं लगा एक टक तुझे देख झूलने प्रेम का झूला।
अब्बा से तू ने अपने थी मेरी पहचान छिपाई ॥४॥

सपना टूटा, मन तड़प रहा, रो रहे नयन
रिपु बना जागरण, संबल है बन चुका शयन।
क्षण भर सुख-सरि में रमा, विरह की उर में आग लगाई ॥५॥

मुनि-शप्त देव-बाला आई मुझको बरने,
फिर देख लजाई मुझे, लगी या कुछ डरने !
क्यों किन्तु राह चलते मेरे अन्तर में प्रीत जगाई ? ॥६॥

याद आ गयी, शप्त नित्य-बिरही हम देही
सपने में ही मिल पाएँगे नित्य-सनेही।
धन्यवाद है विधि को, जो इतनी भी दया दिखाई ! ॥७॥

(६)

अवयस्के, कलकरुणगायिके, तू पुंश्चली-सुता है!
माना तुम में गुण अनेक लोकोत्तर दिव्य कलाएँ
दूर रहेंगी किन्तु छाँह से तेरी कुल-ललनाएँ
दृप्त सर्वदूषक भी दृग लख होते तुम्हें सकाम।
रम्भादम्भहरे! सच तेरा कनकलता है नाम।
दुष्कुलीन तुझको, कुलीन पर कौन वरेगा भोली।
रह जाएगी रिक्त प्रेम की सात्त्विक तेरे झोली।
क्षीण-पुण्य अप्सरा क्या न तू सद्यः दिवश्च्युता है ॥१॥

देख रही क्यों मुझको ही आँखों से तू ललचाई?
भटक कहाँ से आज जले पर जाल डालने आई?
मुझे विवश सा करता पर क्यों रूप अलौकिक तेरा?
आनन पर भी तनिक न तेरे अघ का है अन्धेरा!
भेद बता अपना क्या सच तू है गन्धर्व-किशोरी
शप्त प्रिया या मेरी आई मिलने चोरी चोरी
चल पाती तुझ पर न नियति की भी निष्ठुर प्रभुता है ॥२॥

(७)

वेष वल्लभा का सज कर सपने में तू ही आई?
स्मय-बिरहित मुख, मुरझाई सी दृष्टि, म्लान से नैन।
सूखे होठ कपोल संकुचित धँसे, रुँधे से बैन।
स्वय सह-शयन-हित अपाङ्ग से तू ने तृषा जताई ॥१॥

तेरा वह अनुरोध प्रबल भी मैंने हा! ठुकराया।
नारी-सुलभ त्रपा तज माँगा जो, न दान वह पाया।
अडिग रहा, सपने में भी मैं ने अश्मता निभाई ॥२॥

तू चकवी मैं चकवा, नींद निशा, मुनि करुणा सपना।
कभी न मिलने देने को कटिबद्ध दैव पर अपना।
इसी भाँति कम से कम तू पड़ती रह मुझे दिखाई ॥३॥

रात स्वप्न में सुन्दरि ! तुम बन कर किशोर भी आई !
रसाभास भी तुम उफ ! हो रस-लेश-हेतु कर सकती !
आग प्रीत की कैसी तेरे उर में नित्य लहकती !
मर्यादा पर-दार-भीरु की तुम ने खूब निभाई ? ॥१॥

शंसनीय है सूझ तुम्हारी, धन्य तुम्हारा अभिनय
आलिङ्गित हो सोई मुझ से तरुण रूप धर निर्भय !
लिपट लता सी चूम रिझा तन में मदनाग्नि लगाई ॥२॥

अरे ! याद आई तुम मेरो अभिसारिका पुरानी,
जाग्रत में असफल, सपने में कर लेती मनमानी ।
अभी चुभ रही हैं, उर में आँखें तेरी ललचाई
हृष्ट रोम तेरे अब भी पड़ते हैं प्रिये ! छुआई ॥३॥

(९)

प्रेयसि ! दिख फिर रात मुझे तू सपने में गुदगुदा गई !
स्वर्ण-यष्टि सी देह, तरुण सा स्वस्थ उरोजाभास ।
लिङ्ग-सन्धि सा वयः-सन्धि का मुख-लावण्य-प्रकाश ।
बहलाती अपने को या मुझको री ! मृगतृष्णिकामयी ॥१॥

तुम तरुणी या तरुण, तरणि मेरे हित बनी विरल हो
दिखती, पर रह दूर स्पर्श से, करती मुझे विकल हो ।
कभी रिझाती, कभी खिझाती आँखमिचौनी खेल नयी ॥२॥

(१०)

रात पकड़ने प्रिये ! तुम्हें मैं ही दौड़ा तू भागी ।
निम्ब बिटप पर आँगन के तुम बनी पपीहा बोली ।
कल रुत की पी कहाँ पी कहाँ स्वयं सुधा ज्यों घोली ।
श्रवण पुकार उठे, जागो लोचनो, दम्भपटु त्यागी ॥१॥

दौड़े नयन, न थी शाखा पर कोई किन्तु पपीहा।
पाँव हिलाती बैठ दिखी पर रमणी एक निरीहा।
"तुम नीचे मैं ऊपर बैठी, छू न मुझे पाओगे।
मैं रोऊँ तेरे हित, तुम अपनी कविता गाओगे?
किस सुख से गाऊँ मैं?" कह वह बनी चातकी कागी ।।२।।

पर अण्डे से ज्यों खग-शावक क्रमशः विकसित होता।
ज्यों परिणत हो जाता नद में एक कृशोदर सोता।
त्यों छलिनी तू बनी देखते ही कागी से कोयल।
पल में कोमल हुई प्रेयसी, देखा जब आँखें मल।
ज्यों ही दौड़ा पाँव पकड़ कर तुम को निठुर मनाने।
अन्तर्हित हो गई! कौन वास्तविक अधिक अनुरागी? ।।

(११)

रात बालसखि! बाल-सखा बन अच्छा मुझे छकाया।
लिपट लता सी लपट झपट झट नोंक झोंक भी खेली।
देह-विटप में सटी नवेली बेली सी अलबेली।
हटी छिटक तू मुझे, जाग ज्यों कर मैंने फैलाया ।।१।।

बता बात सच, सता मुझे क्या प्रेत-प्रीति तू पाती?
मैं सपने में रोता, तू मन बहलाती, मुसकाती!
तुमने ही क्या यहाँ वहाँ या मुझे रुलाकर पाया? ।।२।।

विप्रलम्भ पीयूष; गाद, तलछट, संयोग गरल है?
ईषन्मिलित निमीलित दृग ही प्रकृति-पुरुष संबल है
कल्पवृक्ष का फल न किसी को, मिलती केवल छाया? ।।३।।

(१२)

सूझ और रुचि अद्भुत प्रिये तुम्हारी।
निश्चिन्त मुझे सोने भी हाय! न देती,
निर्बाध मुझे रोने भी हाय! न देती
अंडें सा मुझको बैठ दूर भी सेती
अंक-पाश में बँध अशंक सुख-मीलित-दृग, बस, छन भर बन शिशु,
हो किशोर, क्रमशः कुमार, फिर डरती बनती कुमारी।
अन्तर्हित हो गई हाय! ज्यों पहुँची मेरी बारी ।।१।।

विरल यह कौशल हुआ वात्सल्य भी जिस रीति से,
दाम्पत्य रति में अरे! परिणत!
दुरभिसंधि नयी तुम्हारी ने सतत अवहित मुझे भी किया अनुगत
स्वप्न-रति लीला नवल यह सच बड़ी रोमाञ्च विस्मय हर्षकारी ॥
जागरण में भी न करती क्यों यही जादू, यही तू रासमाया?
क्यों न रहती साथ मेरे अन्य-हेतु अदृश्य रह, बस एक मुझ से दृश्य छाया?
करती रहती क्यों कूट योजना यह सारी?
परकीय बना, परकीया बन छल चौर्य विरलरति
से ही जाती तेरी रमण-तृषा री? ॥२॥

अभिप्रेत प्रेता का तुझ क्यों मैं हूँ इतना?
सूखी रति की रंगभूमि यह, वह भी पगली! निमिष मात्र की
रसास्वाद ही देनी होगी, कितना?
श्रम अपार, कौशल अनेक, उपलब्धि तुच्छ,
संयोग-सुधा यह खारी, यह अभिसार वृथा री! ॥३॥

(१३)

स्वप्न, नाटक, सत्य या यह?
तुम खड़ी हो सामने या प्रेत या प्रतिमा तुम्हारी?
खा रहे फिर नैन धोखा, या अनोखी यह खुमारी?
बुत बनी क्यों? खोल मुँह, कह ॥१॥

हँस रहे हैं शुष्क बरसा अश्रु वर्षा मूढ़ फिर दृग
जा रहे गिर गिर पिपासु मरीचिका की ओर फिर मृग
फिर कहीं से आ गई वह! ॥२॥

पीर स्मृति की स्थूल छाया बन कभी आती सताने
चेतना भी दमित धर क्या देह आ जाती चिढ़ाने?
लाख कर, सकती न हो वह ॥३॥

मैं जगा ही हूँ न सोया, क्यों कि कटती है चिकोटी,
मींजने पर भी न आँखें छोड़ती हैं नींद ढीठी
गूढ क्या तम से तमोऽपह ? ॥४॥

दी तुम्हारी मर्म-पीड़ा, सह रहा मैं त्याग व्रीडा।
यश, प्रतिष्ठा का हरण भी, समझ हरि की एक क्रीडा।
बना गृह ही ग्राह दुर्ग्रह ॥५॥

(१३)

अब छोटी सौत के यहाँ भी तुम आती हो !
स्निग्ध दृष्टि, मधुर वचन का जादू उस पर भी अपना चलाती हो !
जेठी सखी बन, उसी के लिए मानो, शय्यागृह मेरी सजाती हो !
किन्तु देख उसको अनुकूल द्रवित, उस पर स्वयं भी उठँग जाती,
और ओर दूसरी उसे भी बुलाती हो !
प्रेम, मोह, करुणा, संकोच, लाज से न वह आती जब,
बाहर रह जाती, किवाड़ भिड़का देती,
परम तृप्ति की साँस ले तुम मुसकाती हो !
अपने शिशु को अंक में देख उसके, तुम पूछती हो,
सखि, लाल किस का यह ?
कहती जब वह "मेरा", तब तुम फिर पुनः उससे
पूछती हो---"सच ?" हँस कर।
फिर से सुन उत्तर "जी",
मुग्ध भाव से एक पल रुक, शिशु को निहार,
वात्सल्य-दृष्टि निज सारी उँड़ेल,
मुदित, स्मित, मूक आगे बढ़ जाती हो !
वह तो ठगी सी रह जाती, तुम घर में भी,
उसके (या अपने ?) घुस जाती हो !
वह भी तुम्हें है पहचान गई,
त्याग, प्रेम, निष्ठा की तेरी है लोहा भी मान गई !
मुझ से क्या रूठी हो ? आँखें चुराती हो ?
सपने में भी अब भी अभिसरण में इतना डरती, लजाती हो ?
रोती स्वयं भी मुझे भी, रुलाती हो !

(१५)

तुम जहाँ भी हो, वहीं, मुझ को बुलाना ।
याद है सखि ! क्या न वे दिन और रातें ?
जब कभी चुकतीं हमारी थी न बातें !
अन्त क्या है प्रीत का आँसू बहाना ! ॥१॥

आज जब वह छवि, वचन वे याद आते
इन्द्र-धनु से स्वप्न कितने जगमगाते ।
रुदन बन जाता मधुर मोहक तराना ॥२॥

दो तटों के बीच लहरें छटपटातीं
विरहिणी रजनी दिवस से मिल न पाती
नेह क्या सर्वस्व देना, कुछ न पाना ! ॥३॥

शाप दुर्वासा-प्रयुक्त शकुन्तला का ?
बन गया अभिशाप क्या सारी धरा का ?
खो न जाएगी अँगूठी, क्या ठिकाना ? ॥४॥

(१६)

आज शिशु को ही स्तनंधय अंक में ले, उसे बहलाने, घुमाने के बहाने;
आ गई ढिग स्वयं मेरे स्वप्न के मिष उसे, अपने को, मुझे या तू रिझाने ?
छू मुझे छल से बदन अपना खुजाकर स्पर्श-सुख पाने, मुझे बस या खिझाने ?
चाहती तू, लूँ तुम्हारी गात से चिपके पृशुक को
माँग मैं ही स्वयं आ तेरे निकटतम ।
भूमि पर इससे न तू उसको बिठाती !
सावधान पसार हाथ परन्तु जब जब माँगता मैं,
खिसक चुपचुप उसे छाती से लगाती मुसकिराती,
दृष्टि-शर, दृग-कोटि नीचे कर चलाती, सिकुड़ तनिक छुईमुई सी,
मुदित, मुद्रित कमलिनी आँखें चुराती ।
हट, बड़ी आई मुझे सकपट निरख, छू और
निज मृदु अंग, नवयौवन, उरोज चकोर कोरक कुछ छुला
शठ चिर अतृप्त अदम्य रमण-तृषा बुझाने,
बन्द कर पहले दिखा अपने तिलिस्मी दो खजाने !
दंभ भी कौमार्य के अपहरण का मुझ से बचाने,
कूट, पटु, प्रच्छन्न रति का स्वाद चखने या चखाने ।

है मुझे स्वीकार, तेरा स्पर्श इस विधि देह से मेरी बचाना;
किन्तु पाऊँ परस तेरे अरी ! सरसिजगन्धि, मनसिज हर श्वसन का,
स्पृष्ट - कल्पलता - कलेवर बस वसन का।

मिलें दृग को तृषित केवल घूँट दो सुषमाचषक-रस,
जो हुई अन्तः-स्वकीया, उसे विधि ने हाय ! परकीया बनाया।
जीत मुझ से, नियति से तू विवश हारी, चिरकुमारी
क्या उपाय नया मुझे आई सुझाने; स्वयं जलने या मुझे तिल तिल जलाने !

(१७)

इतना मुझ से मोह, अरे ! इतनी है ममता ?
साथ न तो आए हम, और न रही साथ तू
संग तुम्हीं ने तजा वल्लभे ! पहले मेरा !
दूर दूर से आकर ही तो हम तुम मिल कर
हुए एक धारा में परिणत प्रेम नदी नद
दो देहों में प्राण एक ही लगता रमता ॥१॥

किन्तु अपार्थ अपार्थिव छाया-देह-नेह हित
विवश, व्यथित चुभती सी तेरी दृष्टि सिरजती रसाभास सी,
रह सुषुप्ति में भी जाग्रत आँसू बरसाती चिर उदास सी
मुझे न दिखती दिव्य प्रेम की तेरे कहीं धरा में समता ॥२॥

(१८)

मैं तुम्हें नित प्यार करता आ रहा हूँ।
आज तुम को राज यह बतला रहा हूँ॥
छन्द तुम ही मधुर मेरे कण्ठ-स्वर में,
प्रेरणा मेरी तुम्ही जीवन-समर में।
सत्य यह खुद से छिपाता जा रहा हूँ ॥१॥

जागरण में भी तुम्हारा स्वप्न खोया,
याद कर अन्तर तुम्हें किस दिन न रोया ?
लेखनी से पीर वह सहला रहा हूँ ॥२॥

अमृतनिधि भू पर भले मत उतर आये।
किन्तु जी भर जगत् उसकी रश्मि पाये।
गीत से ही प्रीत को बहला रहा हूँ ॥३॥

हाय ! भूलूँ भाँति किस तुमको तनिक भी आज रानी !
भुजलताएँ, पाश में जिनके लिपट जग भूल जाता।
कर-कमल वे, स्पर्श के मैं हर्ष से था फूल जाता।
चन्द्रमुख, जो रात दिन ज्योत्स्ना-सुधा-शेवधि बरसता।
नैन नव नव मधु भरे, जी पान को जिन के तरसता।
हास वह निर्व्याज, जो मन्दाकिनी धारा बहाता,
श्वास वह, आमोद जिसका पद्म की सी बास लाता।
कृष्ण वेणी मधुकरों की श्रेणि की थी भ्रान्ति करती।
बंकिमा भ्रू युग्म की जो काम-धनुकी कान्ति हरती।
वह मधुर सस्मित गिरा, वे और भोले नाज रानी ॥१॥

थे तुम्हारे अंग मृदु असहिष्णु इस कर्कश धरा के,
वह अपार्थिव छवि न तेरी योग्य थी निष्ठुर जरा के
था न पर पर्याप्त केवल स्नेह ही मुझ पर तुम्हारा
रोक रखने को तुम्हें भू पर बने जो स्वर्णकारा?
क्या न था तेरे गुणों का काश ! मैं सच्चा पुजारी ?
कौन सा ऐसा हुआ मुझ से प्रिये ! अपराध भारी ?
मिन्नतें करता रहा, पर रूठ तू भागी गगन को
छोड़ यों रोता बिलखता पार्श्व में इस दीनजन को।
था न दिल में दर्द पर होती दृगों में लाज पानी ॥२॥

किन्तु मेरा भी उचित देना न यह तुझको उलहना
कह रहा आवेश में जो वल्लभे ! रह मौन सहना।
तू न ठुकरा थी कभी सकती विगत-छल प्यार मेरा
तज मुझे, सूना बना सकती न थी संसार मेरा।
सत्य ही दुर्दैव की ही क्रूर लीला आह ! थी यह।
मैं सदा रोता रहूँ, दुर्ग्रह किसी की चाह थी यह।
पर न होना तुम व्यथित, मैं यह कदापि न सह सकूँगा।
तज तुझे ऊपर अगर भू पर मुदित मैं रह सकूँगा।
फिर चुकेगा क्यों तुम्हारे स्नेह का वह व्याज रानी ! ॥३॥

मूर्त्ति तेरी मोहनी रहती हृदय में नित्य छायी।
लोचनों में अश्रु जल की बाढ़ ही रहती समायी।
दें प्रलोभन लोग लाखों, एक भी पर मैं न मानूँ।
हूँ कहीं सोया जगा संतत तुम्हीं को एक जानूँ।
पंचभूतों में बँधे ये प्राण, मन है किन्तु छूटा
लालसाएँ तो प्रबल हैं, हो भले ही भाग्य फूटा।
धैर्य थोड़ा चाहिए, हम तुम कभी निश्चय मिलेंगे।
देखना फिर तो हमारे म्लान ये मानस खिलेंगे।
दैव वैरी हो मगर, मैं भी न आऊँ बाज रानी ॥४॥

(२०)

प्राण ! हो जहाँ कहीं, वहीं मुझे पुकार लो।
थी कभी न रूठती, न थी कदापि ठानती,
देव-तुल्य तुम मुझे रही सदैव मानती।
मैं न जानता हुआ प्रमाद कौन सा बड़ा
दण्ड यह वियोग का मिला मुझे बहुत कड़ा।
हूँ गिरा प्रिये ! मुझे उठा न एक बार लो ॥१॥

रूप वह अपूर्व कान्त हाय ! मुक्त आभरण !
देवि ! सत्य थे तुम्हारे दिव्य सभी आचरण।
पात्र प्रेम का न मैं भले सहस्र दोष-मय।
किन्तु तुम्हारा, करो न दूर, हो न रोषमय।
मैं पतित सही, परन्तु तुम मुझे सुधार लो ॥२॥

मूर्त्ति तुम्हारी सुषम दिगन्त तक समा रही,
उफ ! वियोग-वेदना सही न और जा रही।
रूठ तुम छिपी कहाँ विनय न सुन मुझे भुला,
मैं यहाँ विलाप कर प्रिये ! तुम्हें रहा बुला।

अश्रु पोंछ कोपने ! तनिक मुझे दुलार लो ॥३॥

तनिक सपने में भी तो आ जा।
आँखें मूँद पड़ा हूँ कब से बाट जोहता तेरी
गई नींद तू ने पर कितनी निठुर! लगाई देरी।

कहीं निकट ही पायल पड़ती तेरी मधुर सुनाई।
छवि की तेरी परछाईं भी पड़ती कभी लखाई।
तनिक मुखड़ा भी तो दिखला जा ॥१॥

विरह-वह्नि में तिल तिल जल जल हुआ चेतना-हीन।
आँखें अश्रु-नदी में गल गल हुईं म्लान अति दीन।

शोक-शल्य से बिँधा बना है मेरा पंगु विवेक।
एकाकी हूँ, भूल गया पथ, है न सहायक एक।
तनिक आ राह मुझे बतला जा ॥२॥

(२२)

सुधि तेरी हिय में नित जलती।
चूक हुई मुझ से सच भारी, मूक बनी मुझ से तू प्यारी
प्राण! मान जा अब की बारी, पुनः न होगी ऐसी गलती ॥१॥

सावन की भीषण अँधियाली, घोर घटाएँ छाईं काली।
विरह-तमिस्रा मेरी आली! हाय! न कैसे भी है टलती ॥२॥

रिमझिम गीत न अरे! रुदन है, गर्जन यह घन का क्रन्दन है।
अनिश दीर्घ निःश्वास पवन है, संसृति दुःख से सदा मचलती ॥३॥

अश्रु-झड़ी यह मेरी रानी, कहते लोग बरसता पानी।
चपला की है वितथ कहानी, झाँक गगन से तू ही छलती ॥४॥

मन भूला कपोल फलकों में, तेरी नागिन सी अलकों में।
मेरे इन भींगे पलकों में स्मृति तेरी है पल पल पलती ॥५॥

प्रिये! मुझे इस विधि बिसरा मत, मुझ से अपने को बिलगा मत।
अधिक और अब मुझे रुला मत, हाय! न क्यों तू तनिक पिघलती ॥६॥

(२३)

मत और सताओ प्राण ! मुझे, अब तो सपने में आओ ना ।
जब संध्या भू पर आती है, सुख शान्ति विश्व में लाती है ।
हर्षाश्रु बहाती हुई मधुर, अपना मुखचन्द्र दिखाती है ।
तुम भी मेरे मानस-नभ में, अपना शशिमुख चमकाओ ना ।।१।।

जब रात दो पहर होती है, दुनिया चिन्ताएँ खोती है ।
हो शिथिल सृष्टि सारी प्रतिमा सी मौन मोद में सोती है ।
मैं व्यथा भूल जाऊँ, ऐसी थपकी दे मुझे सुलाओ ना ।।२।।

पूरब में लाली छाती है, प्रमुदित विहगावलि गाती है ।
जगती जगती लगती हँसने, खुद प्रकृति नटी मुसकाती है ।
मेरी आँखों में उतर तनिक प्यारी ! तुम भी मुसकाओ ना ।।३।।
अब भी सपने में आओ ना ।

(२४)

जब तुम्ही गई सुरलोक, हमें दे शोक, निठुर ओ प्यारी,
दुनिया में कौन हमारी ? ।।

जब बादल रिमझिम आते हैं, दादुर मतवारे गाते हैं ।
पर मुझको दिखती रोती जगती सारी ।। दुनिया में० ।।

मधु मलय वायु जब चलती है, फल फूल लता भी पलती है ।
मैं कहूँ प्रकृति के जलने की तैयारी ।। दुनिया में० ।।

जब शरद चन्द्रिका आती है, वसुधा का ताप मिटाती है ।
रहती मेरी पर विरह-वह्नि नित जारी ।। दुनिया में० ।।

तेरी जब याद सताती है, यह दुनिया सूनी आती है ।
आँखें रह जाती आँसू गिरा दिखारी ।। दुनिया में० ।।

(२५)

साथी मुझे अब मत सता, अब मत सता।
उलटी है सच! हाय! दुनिया की रीत।
तब ले सका मैं न तेरी पिरीत।
जब हाथ मैं ने पसारे ये मीत!
तब हो गये तुम लापता, तुम लापता!

मेरा ही था मैंने माना कसूर।
पर तुम तो इतने कभी थे न क्रूर!
क्यों हो गए मेरी आँखों से दूर?
संगी निठुर, यह तो बता, यह तो बता॥ साथी०॥

(२६)

हम रह कर क्या करेंगे, जब तुम ही नहीं रहे!
देखा गया न किस्मत से मेरा आशियाना।
जालिम ने उसे तोड़ा, कर मुझ को बेठिकाना।
अब आफत कौन सहे॥१॥

बुलबुल ने अभी अपना छेड़ा था ज्यों तराना।
व्याधे ने बेरहम त्यों मारा अचूक निशाना॥
कैसे संगीत बहे॥२॥

जाने को पार किश्ती मैं ने थी जो बनाई।
क्या जाने आ कहाँ से तूफान ने डुबाई।
दरिया में कौन दहे? ॥३॥

(२७)

प्यारी! और न अधिक रूला, प्यारी०॥
रूठ न मुझ से मेरी रानी, याद न कर मेरी नादानी।
जा अपराध भुला, प्यारी०॥१॥
याद सताती है नित तेरी, प्रिये! करो मत इतनी देरी
हाँ, हाँ जल्दी लो न बुला, प्यारी०॥२॥
बाँध भुजों में फिर से अपने, दे दे मधुर सुनहले सपने
सुख से तनिक सुला, प्यारी०॥३॥

(२८)

तोड़ दिल ओ छली, छोड़ मुझ को चली, कुछ बिचारा !
कौन मेरा यहाँ है सहारा ?

भोली आँखों में मेरी समा के, भोले जियरा को बन्दी बना कै,
प्यार में फिर घुला, रात दिन यूँ रुला, क्या तुम्हारा,
था भला काटना यह किनारा ? ॥१॥

चाँदनी की धुली स्निग्ध रातें, मुसकिरा कर कही मधुर बातें,
कैसे जाऊँ बिसर, देखता जब जिधर, विश्व सारा,
है तुम्हीं से भरा, कौन चारा ? ॥२॥

पूछो तन का न मेरे ठिकाना, मन बना बेतरह जब दिवाना,
घूँट आँसू के पी, हूँ रहा देख जी, गात प्यारा,
भी बना हाय ! सच क्रूर कारा ॥३॥

(२९)

प्रतिमा तेरी कोई नहीं बनाई, कोई नहीं खिचाई !
स्वय उरेही नहीं, न विधि की कहीं उरेही पाई ! ॥
वासवदत्ता तो जल कर फिर प्राप्त हुई उदयन को।
किन्तु सचिव दे कौन सहारा व्याकुल मेरे मन को ?
सान्त्वक कोई रुमण्वान् भी देता नहीं दिखाई, पड़ता नहीं सुनाई ! ॥१॥

यौगन्धरायण कौन धैर्य मुझे बँधाये आज आ कर ?
पद्मावती के साथ ही सौंपे तुझ घूँघट हटा कर !
तू क्या जली, जली युग युग की मेरी प्रेम कमाई ! ॥२॥

कौन तुम्हारी मके से ला छवि मुझ को दिखलाए ?
कौन तुम्हें फिर इन्द्रजाल या जादू से ही लाए।
अमृत छिड़क कानी अगुली की तुम्हें धूल से जिला पुनः प्रकटाए ?
शिल्प सीख विरही मन ने थी प्रतिमा गढ़ी सुघड़ जो,
वायवीय वह भी अब अवचेतन में हाय ! समाई ! ॥३॥

गर किसी एक को ही रहना है हम में से,
तो तुम्ही रहो, अन्यत्र मुझे ही जाने दो ।
मैं देख चुका सब उछल कूद, संगीत, नृत्य
है खेल न मेरे लिए बचा कोई अभिनव ।
कितने अभिनय खुद किये, स्वांग बाँधे कितने ?
मैं नहीं देखने बैठा हूँ सच, यह उत्सव ।
मैं तो केवल बस साथ तुम्हारा निभा रहा,
मंजूर नहीं क़िस्मत को संग हमारा गर,
तो कहीं और मुझ को ही साँझ बिताने दो ।।
तो तुम्हीं रहो, अन्यत्र मुझे ही जाने दो !

चाटूक्ति नहीं करता मैं तुझे रिझाने को,
मैं नहीं वासना के वश में पड़ रहा बोल ।
छँट चुके मैल, तलछट सब बहुत दिवस पहले
है स्नेह स्पर्श-शीतल, रस-मादक रूप-विमल
निगमागम का मैं भेद रहा हूँ आज खोल ।
यदि इष्ट नियति का है करना अन्धेरा ही
तो बाती जल जाने के पहले, टूट दीप को ही निज तन बिखराने दो ।।
तो तुम्हीं रहो, अन्यत्र मुझे ही जाने दो !

(३१)

जो चमकता अधिक वह आभरण जाली ।।
तुम न पहचानो मुझे, मुझ से रहो आँखें चुराती, घूरती, छिप छिप लजाती,

किन्तु मैं अच्छी तरह तुम को सजनि ! पहचानता हूँ ।
नियति के भी राज को मैं जानता हूँ,
हो तुम्ही मेरी अरी ! उस जनम वाली ।।१।।

प्यार कर के भी परस्पर हो चुके हैं हम पराये,
प्रीत भीतर सुलगती जलती रहे, पर दिख न पाये ।
सालती लाली दृगों की स्वान्त को रह जाय साली ।।२।।

अर्थ से हैं हीन नाते व्यर्थ सारे, अर्थ गति देता मनोरथ को हमारे।
स्नेह जीवन-चक्र को करता मसृण, पर अर्थ के ही जोहता रहता शारे।
भरा रहना भार बन जाता हृदय का,हाथ हो जब प्रेयसी के पास खाली ।।३।।

प्यार की ऊष्मा बना मन को सुशीतल राह देती,
दुर्नियति है नीति को ही काम के सँग व्याह देती,
दे उसे कोई कहीं आशीष, गाली ।।४।।

अर्थ अर्पित हो उसी में काम जिसमें,
धर्म को मिलता सदा आराम इसमें।
मोक्ष का यह राजपथ जन-जन सुलभ है,
अजप जप यह छोड़ भूला मूढ ! किसमें ?
जन्म-कारा में कठिन शत कोटि ताले,
जादुई पर यह सबों की एक ताली ।।५।।

(३२)

मैं क्या गाऊँ, खेलूँ होली !
रिक्त सभी रंगों से है मेरे जीवन की झोली ।।
मूर्त्ति तैरती है तेरी, मेरी आँखों में,
वह उत्साह न अब गगनस्पर्शी पाँखों में।
हम क्या करें नियति हम से जब करती स्वयं ठिठोली ! ।।१।।
हुआ हव्य देवों को अर्पित, मिला न कभी प्रसाद।
समझ कव्य को क्रव्य ले गए छीन हाय ! क्रव्याद !
हँसते रहे सभी हमजोली ! ।।२।।
पति-पत्नी से उपपति-उपपत्नी का मिलन मधुरतर !
राधा के प्रति रसिक-शिरोमणि अर्पित पर निष्ठुरतर !
उसको यह जगती ही पोली ! ।।३।।
रहो कहीं अपने, अपनी दो मुझे एक प्रतिमा मुसकाती
बृहत् नाम से रूप, रूप से भी प्रतिरूप बृहत्तर थाती।
छू न सका चोला, दिखती तो रहे किन्तु वह चोली ।।४।।
स्वयं सर्ग से भी समस्त उपसर्ग कहीं उत्कट हैं।
अरे ! इन्द्र से भी उपेन्द्र साधक हित निकष विकट हैं।
पशुपति भोले भले, महामाया पर कभी न भोली ।।५।।

(३३)

आज दीवाली प्रकाश-विलास-वेला !

दीप मिट्टी के बने या, काच के छोटे बड़े रंगीन, रंग-विहीन
बन्दनवार बन दीवार पर हर सज रखे या।
झिलमिलाते, चौंधियाते लोचनों को जल रहे हैं
हाथ में लेकर पटाखे बहुविधाकृति
शिशु किशोर युवक इधर से उधर हँसते खेलते
उल्लसित कोलाहल मचाते चल रहे हैं, मोद-मग्न उछल रहे हैं !
दर्शकों को छल रहे हैं।
ये पटाखे चूमते आकाश जल कर, विविध प्रतिमाएँ बना
विस्फोट से सब को कँपाते, और अचरज में डुबाते
किन्तु मुझको खल रहे हैं !
रेडियो संगीत, लाउड स्पीकरों से बहुगुणित, निर्घोष-मज्जित
और है प्रतिवेश उद्वेलित, सुसज्जित।
पर परस्पर दूर हैं हम, तुम अकेली मैं अकेला ॥१॥

दीप, आतिश और फुलझड़ियाँ सभी मिल,
क्या मिटा लेंगे अमावस का अँधेरा ?
संतमस जग का मिटेगा ? और क्या होगा सबेरा ?
भाग्य भी क्या ये सकेंगे बदल मेरा ?
ला सकेंगे ये तुम्हारे और मेरे, और भारत राष्ट्र के भी,
पुनः जीवन में उजेला ? ॥२॥

देखता हूँ, एक आतिश फूट विद्युत् दीप शत या रश्मि फैलाते गगन में,
सोचता हूँ बैठ एकाकी यहाँ अपने सदन में, शून्य मन में।
खेलने लगते कबड्डी ये प्रकाश-किशोर और प्रभा-किशोरी
दौड़, छिप, छूते, हटाते तम-कणों को।
है असंशय शरद की यह मधुर तिमिराभ्यक्त ज्योतिःस्नात वेला ॥३॥

निरखता हूँ, किन्तु जग में एक है, जो
नित पसीना भी बहा भर पेट अन्न जुटा न पाता,
दूसरा दीपावली में घर सजाने, खेलने जूआ, पटकने में पटाखे
और फुलझड़ियाँ जलाने छोड़ने में है हजार मुदित लुटाता !
एक को लक्ष्मी सहज ही लक्ष देतीं, कोटि अर्बुद, खर्व भी दें,
दूसरे के हेतु होता, किन्तु क्यों दुर्लभ अधेला ? ॥४॥

पर नशा पी नागरिक सब हर्ष-वर्ष-विभोर होएँ
मैं बनूँ क्यों कोतवाल स्वयं-नियुक्त भुवन-नगर का ?
और अंदेशे सभी के मुझे ही क्यों कर घुलाएँ,
नित गलाएँ, देह यह जर्जर बनाएँ ?
सब रहें आनन्द-मग्न अभय; जलें हम होलिका चिन्ताग्नि में बस,
करें एकाकी सबों का दुःख झेला, छोड़ दंपति सुलभ-हेला ?
क्या न यह जगती पहली, जग कुहेला ? ।।५।।

(३८)

सुन्दरता क्या जादू, मदिरा, सुधा ? नहीं रे हाला !
शम, दम, सत्य, विवेक उधर हैं, इधर अनंग अकेला।
इनकी रस्साकशी सतत मानव-मन करता झेला।
धैर्य साथ दे संयम का संतुलन न यदि कर लेता,
गुरु का ज्ञान पड़ा रहता, हावी हो जाता चेला।
विषधर उर पर लोट रहा, समझो न इसे जयमाला ।।१।।
विधिवश यदि दृग-तृषा ढूँढ़ लावण्य-क्षीर-निधि पाती
क्रूर यक्ष-जिज्ञासा तट पर आ त्योरियाँ चढ़ाती।
स्थिर जो रहता बना अन्त तक इस संघर्ष-भँवर में,
उसके चरणों में सुषमा रुक्मिणी प्रणत हो जाती।
चाहो जिधर नहाओ, गंगा इधर, उधर है नाला ।।२।।
ज्यों ज्यों ढलता है वय, फिसलन का बढ़ता जाता भय,
जमता ज्यों ज्यों जल, त्यों त्यों काई का होता संचय।
शास्त्रों की संमति, समाज-मर्यादा रोक न पाती,
किसी षोडशी पर पड़ते जब लोचन ये मधुविषमय।
बड़े बड़े धीरों की भी मति पर पड़ जाता ताला ।।३।।
लू सी साँस, धौंकनी सी छाती की होती धड़कन,
दिल बुझता, आँखें अन्धी सी, अलस-शिथिल होता तन।
प्रेमी बनते उपसुन्द सुन्द सुन्दरता सुन्दरता माया
दोनों रस लेते मरने में पा अमिय हलाहल चितवन।
अपस्मार के दौरे सा इसका अभिसार निराला ।।४।।
एक बार जो गया फिसल, फिर सँभल विरल वह पाता।
देश, काल, प्रतिवेश डाल मल कल्मष-राशि बढ़ाता।
विष्णुपदी चेतना निम्नगा बन क्रन्दन करती है।
दुर्लभ अवदातता उत्स की, छिन प्रवाह भी जाता।
कड़वी होती घूंट, छूट पड़ता हाथों से प्याला ।।५।।

(३५)

रुचिर हार उपहार तुम्हारा।

सुन्दरि ! बतला रहा कौन है, कितना मीठा खारा।
बाहर भीतर मृदुल एक सा सरल स्वभाव मखाना।
भीतर सरस कठिन बाहर है नारिकेल मस्ताना।
ऊपर मीठा निठुर किन्तु शठ नीचे कुटिल छुहारा
रुचिर हार उपहार तुम्हारा।

कल तक जिनने दिली दोस्त के अभिनय सभी निभाये।
बदल गये वे इस विपदा में मुँह रह गये चुराये।
किन्तु न तुम ने कभी तनिक भी अब तक मुझे बिसारा !
रुचिर हार उपहार तुम्हारा।

रंग छिड़क कर, रोली मल कर खेल रहे सब होली।
मैं सुनने को विकल सुधा सम "जीजाजी" यह बोली !
काश ! आज तुम से मिल पाता तोड़ क्रूर यह कारा !
रुचिर हार उपहार तुम्हारा।

(३६)

काली घुँघराली अलकाली कालव्याली सी,
भौंह नलिन डाली पर पाली अलि-आली है।

दाग बिन खाली मुँह गाली दे शशधर को
दीठ मतवाली, मानो मदिरा की प्याली है।

अधर की लाली बिम्बतुल्य छविवाली
देह-लता द्युतिशाली, मानो कंचन की ढाली है।

गति में मराली वनमाली की आली सी
सुन्दर निराली मुझे मालती सी साली है।।

(३७)

लाख सिखाऊँ मन ना माने ।
सुने न मेरी एक नेक यह, अपना ही हठ ठाने ।।
सब असार सब झूठ निरे, सब इन्द्रजाल, सब सपना ।
नहीं असुन्दर-सुन्दर कटु-मधु, नहीं पराया-अपना ।
वेद, पुराण बखाने ।। लाख० ।।

कौन बात यह ? जो देखे, सो माँगे रूठे, रोये
रटे उसी की रटना अविरत, कभी न बिसरे सोये ।।
हित-अनहित ना जाने ।। लाख० ।।

बीत गई जो बात, गई वह, अब क्या हो पछताये ।
मुसकाता जो रहे, वीर वह उर में पीर छिपाये ।
दर्द न जग पहिचाने ।। लाख० ।।

(३८)

मौत, मौत, ओ मौत ! कभी से तुम्हें पुकार रहा हूँ ।
ऊब जिन्दगी से इस तेरी राह निहार रहा हूँ ।।
करने को अभिसार आज मैं तुझ से हूँ तैयार ।
तज दूँगा सर्वस्व तुम्हारा पाने को मैं प्यार ।।
मायामयी रहस्यमयी अँकवार-पाश में भर ले ।
शीतल, मदिर स्पर्श से तन मन की पीड़ा सब हर ले ।।
आकृति घोर, कठोर नाम, पर कोमल तेरा काम ।
थके पथिक जीवन-पथ के पाते तुझ से विश्राम ।।
जिन्दगी संग्राम का कटु आदि, मधु अवसान तू ।
जिन्दगी अभिशाप धरती का, सुलभ वरदान तू ।।

(३९)

तुम से क्या छिपाना, सच कहता, मैं उन से मुहब्बत करता हूँ ।
देखने को उन्हें ही जीता हूँ, देखने को उन्हें ही मरता हूँ ।।१।।
जब से है सुना, जाना उन को, अन्तर में रमे, साँसों में बसे ।
चलते, बैठे, जगते, सोते पल भर भी उन्हें न बिसरता हूँ ।।२।।

उर में जले कितने ज्वालामुखी, नयनों से बहे कितने सागर।
पत्थर की बनी पर यह काया, इस से अब तक न बिखरता हूँ ।।३।।

दुनिया की मुझे परवाह नहीं, कोई आह नहीं, कोई डाह नहीं।
बस, वे न कभी रूठें मुझ से, इस से ही हमेशा डरता हूँ ।।४।।

किस से पूछूँ, मुझे कौन कहे ? वे कैसे मुखातिब होते हैं।
कहीं कुछ न उन्हें लग जाय बुरा, पग सम्हल सम्हल कर धरता हूँ ।।५।।

"मैं उन का हूँ, वे मेरे" सुनूँ, उन के भी मुँह, बस चाह यही।
कोई तो बताये, हैं वे कहाँ? मैं पाँव सभी के पड़ता हूँ ।।६।।

(४०)

मुझे हाय! वो बेवफा मानते हैं। जो कह दूँ सही तो खजा मानते हैं।
वो छिप छिप मुझे नित निहारा हैं करते। पै नजरें मिलाना सजा मानते हैं।।
बड़े गौर से जिक्र सुनते हैं मेरा। पै दर से गुजरना कजा मानते हैं।।
करें लोग शिकवा, न परवा मुझे कुछ। मगर वो ये मेरी रजा मानते हैं।
गो मुझ से जुदा हैं, पर मेरे खुदा हैं। कहें या करें जो बजा मानते हैं।।

(४१)

हँस हँस के नहीं गम को भुलाऊँ, तो क्या करूँ?
दिल में भी नहीं उनको बसाऊँ, तो क्या करूँ? ।।१।।

लब पै गिला लाया न ला रहा, न लाऊँगा।
आँसू भी कभी मैं न बहाऊँ, तो क्या करूँ? ।।२।।

वे आएँ, न आएँ इधर, यह उनकी रजा है।
पर मैं न सुमिरनी भी फिराऊँ, तो क्या करूँ? ।।३।।

उनकी कहीं कोई लगे करने नहीं शिकवा।
आँखें न उन्हें देख चुराऊँ, तो क्या करूँ? ।।४।।

मुमकिन नहीं कि दर्द इधर हो, उधर न हो।
खुद को मिटा न उन को बचाऊँ, तो क्या करूँ? ।।५।।

मुहब्बत के तेरी सताये हुए हैं।
तेरा नाम लब से लगाये हुए हैं॥
कभी तो झरोखे से झाँकोगे आकर।
तेरे दर पै धूनी रमाये हुए हैं॥१॥
कभी तो किसी राह गुजरोगे आकर।
हम हर डग पै आँखें बिछाये हुए हैं॥२॥
मिले एक से एक बढ़ इस जहाँ में।
पै दिल में तुम्हीं को बसाये हुए हैं॥३॥
हमें क्यों हो तिल तिल जलाते, गलाते।
हम खुद ही खुदी को मिटाये हुए हैं॥४॥
मुनासिब क्या है मुझसे नजरें चुराना।
दूर से देर से दर पै आए हुए हैं॥५॥
बनाते हो नाहक ही झूठे बहाने।
समझ सब भी हम चुप लगाए हुए हैं॥६॥

(४३)

कोई नयनों में मेरे समा गया है॥ कोई नयनों में॥
नाम लब पर मेरे उसका छा गया है॥
मिलती कहीं वैसी सूरत न सीरत।
उस पर दिल मेरा बरबस लुभा गया है॥१॥
बाहर लजाता पर घर में है आता।
मन के बन को चमन वह बना गया है॥२॥
दुनिया से क्या मुझ को लेना या देना?
अपना सरबस वो मुझ पर लुटा गया है॥३॥
सुनता सदा वेणु-वाणी उसी की।
बीन अन्तर की मेरे बजा गया है॥४॥
हानि-लाभ, निज-पर सब बिसरा।
मेरी सुध-बुध भी वह भरमा गया है॥५॥

(४४)

नैन राह तेरी छन छन निहार रहे हैं, नैन राह तेरी ॥
बैन नाम तेरा पल पल पुकार रहे हैं ।
ना मूर्तिकार मैं, ना मैं चितेरा ।
मनन, चिन्तन ही प्रतिमा उभाड़ रहे हैं ॥१॥

कहाँ पाऊँ मन्दिर, कहाँ तीरथ-पथ ?
अपने अन्तर में मूरत उतार रहे हैं ॥२॥

कहाँ पाऊँ गंगा, या सरयू या यमुना ?
चरण प्रेमाश्रुजल ही पखार रहे हैं ॥३॥

कहाँ पाऊँ सोना, कहाँ मणि-माणिक ?
भक्ति-भजन-सुमन ही छवि सँवार रहे हैं ॥४॥

कहाँ पाऊँ पंडित, कहाँ मैं पुजारी ?
रोम रोम तेरी विनती उचार रहे हैं ॥५॥

(४५)

तुम्हीं ने दर्द दिया है तुम्हीं दवा देना ।
तुम्हीं ने राह दिखाई, तुम्हीं पहुँचा देना ॥
तुम्हारा नाम ले सुख दुख सभी सहता आया ।
तुम्हीं सरबस मेरे, दुनिया को यह कहता आया ॥
तुम्हीं ने ठोकरें दी थीं, तुम्हीं सहला देना ॥१॥

मुझे मालूम न था इश्क की कला क्या है ?
विरह की पीर क्या ? माशूक की बला क्या है ?
तुम्हीं ने प्यार सिखाया, तुम्हीं समझा देना ॥२॥

देखने को तुम्हें ये नैन तरसते आये ।
याद में ही तेरी बन मेह बरसते आये ।
तुम्हीं ने आग लगाई, तुम्हीं बुझा देना ॥३॥

तुम्हीं मेरी नैया, तुम्हीं हो खेवैया ।
तुम्हीं तट, पुलिन, तरु तुम्हीं हो बचैया ॥
तुम्हीं मेरे मन्दिर, तुम्हीं मेरी प्रतिमा;
ऋचा, साम तुम ही, तुम्हीं हो गवैया ॥१॥
सखी, वल्लभा, माँ, बहन, आत्मजा तुम;
सखा, गुरु, दयित तुम, तनय, तात, भैया ॥२॥
तुम्हीं बुद्धि, बल, रूप, गुण, भाग्य, उद्यम;
तुम्हीं कामिनी, कीर्त्ति, अन-धन रुपैया ॥३॥
तुम्हीं श्रेय, तुम प्रेय, तुम मेरे सरबस;
शिवा-शिव, सिया-राम, राधा-कन्हैया ॥४॥

(४७)

प्रभु तुम तक पहुँचती विनती नहीं क्या हमारी ?
कैसे कहलाते व्यापक, अशरण-शरण, गिरिधारी ! ॥
इन्द्रिय-वश षड्रिपु से घिरा मैं
कब से मुझको नचाता भव-जल-भँवर बड़ा भारी ॥१॥
झूठी है दुनिया, झूठे हैं नाते,
एक सच तू है ठाकुर मेरा, मैं तेरा पुजारी ॥२॥
रहते छिपे क्या वरदान भय से ?
कब से मैं तेरे द्वारे नारे लगाता भिखारी ॥३॥
ध्रुव को दुलारा, प्रह्लाद को उबारा ।
द्रौपदी के लिए तुम दौड़े, बचा ली थी साड़ी ॥४॥
गज, गीध, गणिका, कसाई को तारा,
प्रभु आई नहीं क्या, मेरी अभी तक है बारी ? ॥५॥

(४८)

दया के सागर कहाते तुम, पर दया न मुझ पर दिखा रहे हो !
कहाते अशरण-शरण, शरण में मुझे न पर तुम लगा रहे हो ! ॥१॥

न जाने यह कैसी प्रीत की रीत नाथ ! निष्ठुर तुम्हें सुहाती !
मैं तेरे दर्शन के हित तड़पता. तुम मुझ से आँखें चुरा रहे हो ! ॥२॥

"जो तुम वही मैं" विडम्बना यह, ठगी, ठिठोली करो न मुझ से ।
स्वयं बने सर्व-शक्तिशाली, मुझे भिखारी बना रहे हो ॥३॥

कहाते दीनों के बन्धु, दुखियों के दुःखहर्त्ता, सहज सुहृद् तुम ।
फँसा के पंछी सा मुझ को माया में तुम खड़े मुसकिरा रहे हो ॥४॥

दिशान्ध हो, राह खो, भटक, थक विकल कभी से पड़ा पथिक मैं ।
जो सर्वव्यापक हो तुम, तो आकर मुझे न पथ क्यों बता रहे हो ? ॥५॥

घिरा हुआ छह महान् रिपुओं से अपने घर में ही मैं हूँ बन्दी ।
उन्हें सुदर्शन से भस्म कर तुम मुझे नहीं क्यों बचा रहे हो ! ॥६॥

(४९)

मैं कौन, कहाँ से आया हूँ, क्यों, किस ओर मुझे कब जाना है ?
मुझे राह बताओगे या अभी, कुछ और दिवस भटकाना है ?
क्या आँख मिचौनी खेल रहे, मुझ लूले, लँगड़े अन्धे से ?
हाथ, पाँव नयन वालों ने ही क्या, तुम्हें पकड़ा, छुआ, पहचाना है ? ॥१॥

क्यों इन्द्रजाल, जादू, कौतुक, माया से मुझे भरमा रहे हो ?
बच्चे को मिठाई, खिलौना दिखा, क्या मुनासिब तेरा बहकाना है ? ॥२॥

काञ्चन, कामिनी, कीर्त्ति के काँटें, पथ में डग-डग में बिछा दिये हैं ।
तुम ने ही स्वयं, शैतान का तो, तुम ने रचा एक बहाना है ! ॥३॥

आओगे, बताओगे न स्वयं, जब तक अपना सब भेद मुझे ।
चीखता ही रहूँगा दर पै तेरे, मैंने भी यही अब ठाना है ॥४॥

(५०)

कब तक भटकूँ जीवन-वन में ?

झाड़ी झाड़ी मैं ने झाड़ी, झाँकी खाड़ी और पहाड़ी
मिली कहीं न तुम्हारी बाड़ी !
छाना क्षिति का कोना कोना, देखी मिट्टी, देखा सोना
अरे, एक ही सब का रोना
लाख बहारो, लीपो, पोतो, तुम न कभी आते आँगन में ।। कब तक० ।।१।।

चोटी, दाढ़ी रखी, कटाई, तृषा, बुभुक्षा सही, मिटाई ।
शत्रु, मित्र को समझा भाई।
पढ़ा-पढ़ाया, कीर्त्तन गाया, ज्ञान, ध्यान, सुमिरन नित माया
किन्तु दिवान्धक मुई न माया ।
मैं डूबा क्रन्दन में, तुम विचरण करते नन्दन कानन में ।। कब तक० ।।२।।

प्रश्न एक, उत्तर हैं नाना, समाधान सब का मनमाना ।
अन्धों में राजा है काना।
किस से पूँछू, द्वैध मिटाऊँ, गृही रहूँ या भस्म रमाऊँ ?
कैसे पास तुम्हारे आऊँ ?
छिपे गुफा में सुर, असुरों का विजय-तूर्य बजता त्रिभुवन में ।।३।।कब तक०।।

(५१)

तरणी की प्रतीक्षा क्या करते ? तैर कर वैतरणी पार करो ।
कूल पर कब से बैठे-बैठे, "केवट" "केवट" गुहराते हो
पानी में पैर नहीं रखते, उस तट के लिए ललचाते हो ।
उस पार पहुँचना चाहो, तो निज कर को ही करुवार करो ।।१।।

देखते ही विकट शैवलिनी को इस लौट गये कुछ तो भय से ।
कुछ डूबे प्रमादी किनारे ही, ठिठके कुछ जड़ पड़ विस्मय से ।
पथ पर इस पाँव बढ़ाने के पहले सौ बार विचार करो ।।२।।

जीवन का दाव लगाता जो, अमरत्व वही वर पाता है ।
जिस की न कभी पाई झाँकी, उस से ही तो सच्चा नाता है ।
एषणाओं का हो मोह, तो उस प्रीतम से कभी मत प्यार करो ।।३।।

मँझधार अतुल, दुर्वार भँवर, जलदस्यु, मगर घड़ियाल भी हैं ।
ओले, आँधी, घन घोर, तिमिर भीषण, लहरें विकराल भी हैं ।
असिधार पै चल सकते यदि, तो झञ्झा में इसी अभिसार करो ।।४।।

मानव अतीव बुद्धिमान है।
कहते हैं जगती में सचमुच सब जीवों से मानव महान् है।
समझ बूझ उसकी अवश्य बहुत तगड़ी है,
केवल नियति उसकी लँगड़ी है!
कहता है, उसका उपास्य भगवान् है!
रखता शैतान का भी पूरा परन्तु वह ध्यान है!
दोनों की बातें वह सुनता, आदेश अनुसरता है
अदन के बाग के भी सारे फल चखता है, किन्तु सावधान है ॥
दोनों की सीमाएँ बाँटी हैं पृथक् पृथक्,
छह दिन शैतान के हैं,
सोमवार, मंगलवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार।
सर्वशक्तिशाली भगवान् से भी छीने अधिकार कुछ,
उसके हित रख छोड़ा, एक इतवार है।
रुष्ट न कहीं हो वह जाए अतः,
वर्ष में बनाये हैं पर्व बहुविध, जिन पर
पढ़ता वह रामायण, गीता, पुराण, वेद, बाइबिल कुरान है।
दाएँ से लूटता है, मारता है, बाएँ से करता वह दान है।
आत्मा को, ईश्वर के प्रतिनिधि को, राष्ट्रपति पद पर अभिषिक्त किया,
मन को, शैतान-संतान को, पर प्रधानमन्त्री बनाया है!
मन का ही जन जन के तन धन वचन सब पर,शासन स्वच्छन्द आज छाया है,
मन के समस्त आदेशों पर आज मूक बन आत्मा,
हस्ताक्षर करने को बाध्य है, मन का आराधन ही जीवन का साध्य है।
नरतन नर्तन है, यही संविधान है, यही राष्ट्रगान है।
नारायण ने है बनाया उस माया को भार्या भी, प्रेयसी भी, प्रेष्या भी;
दानवपति मय की जो तनया है, प्राण है, रक्त है
मोहिनी से उस की बच पाता बस केवल वही,
अथवा एकाध और जो उसका भक्त है।
पता नहीं रणछोड़ की है यह रणनीति,
अज की लोहितशुक्लकृष्णा अजा पर जय,
सर्वस्व होम या पराजय, प्रमाद है।

जो कुछ हो, नारायण ने है बस अपना ही हित ताका
पर बढ़ा दिया कितना मानव का तर्क-जाल शङ्का-प्रतान है !
इसीलिए एक डग आगे बढ़ा लेता, तभी छोड़ता मर्त्य पीछे का स्थान है।
जब तक मिलें न राम, कैसे वह क्यों तज दे माया भी,
देवानां प्रिय नहीं वह ऐसा। दोनों के बीच रह जाएगा,
एक भी न पाएगा, हाथ बस मलेगा, पछताएगा।
नारायण ने अपने शासन में अपने ही
स्त्री को, प्रकृति को बनाया प्रधान है !
नर की क्या बात, स्वयं अनुगत हैं देव-वृन्द
विधि को किया वुद्ध, हर की भी मति हर ली,
माया ने सब को भरमाया है !
मानुष वराक किस भाँति करे साहस फिर लड़ने का माया से,
मेनका ने नहीं महामुनि विश्वामित्र का ही,
कइयों का और भी तपोऽनल जलाया, मनोबल गलाया है !
अपयश सब देते हैं, सब तो उसी को पर सेते हैं, आज भी न चेते हैं !
कहते हैं, रहता जहाँ भी नर, नरक वहीं होता है
पाता जब ऋद्धि, सिद्धि दैवी विभूतियाँ,
तो सदसद्-विवेक नियम, यम, शम, दम खोता है
चुग चुग कर "चुगना मत" वेद शास्त्र रटता रहता तोता है।
प्रज्ञा से जलता है, करुणा से रोता है।
वैसे तो कहने को इन्द्रियाँ, अपनी प्रजाएँ हैं इन्द्र की,
चलती वे क्या परन्तु हैं उसकी इच्छाओं के पीछे ?
नहीं, नहीं, कभी नहीं।
सौ बार हजार बार, वे अपने ही पीछे उसको चलाती हैं
बन्दर सा उस को नचाती हैं, श्वानों की पाँत में बिठाती हैं;
कठपुतली हाथ की बनाती है।
ठीक है, खाने, दिखाने के दाँत सदा भिन्न भिन्न रहते हैं,
करते नहीं हम, जो कहते हैं।
सब से सब कहते हैं, सब केवल माया है,
वर्जित फल चखने को किस का नहीं जी परन्तु ललचाया है ?
अरे ! सभी ठीक हैं—चार्वाक, शंकर, कपिल, कणाद,
महादेव, कामदेव; सर्वदेश, सर्वकाल, स्वर्ग-मोक्ष, जगज्जाल,

सर्व धर्म, सर्व राष्ट्र का चिर समन्वय हो,
मानवता, नैतिकता, न्याय, तर्क सब कुछ स्वीकार्य है।
कोई भी देश, काल, धर्म या प्रजाति नहीं; प्रत्येक का मन अनार्य है ?
नत-शिर सब कहते हैं, "पंचों की आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य है—
केवल बस एक बात कहने दें, पूरब में मुझको ही रहने दें।
सब के सह-अस्तित्व की यह पहचान है,अग जग का इसमें कल्याण है" ॥
ब्रह्मा ने मनुजों से भारी अन्याय किया,
साँपों को जिह्वाएँ दो दे दीं, होता यद्यपि उनको एक भी न कान है!
और मानवों को हैं कान तो दिये दो दो,
किन्तु जीभ केवल बस एक की प्रदान है!
इससे क्या ? मानव पराजय न मानेगा, धरती के किसी अन्य जीव से,
क्यों कि वही जग में सर्वोत्तम, पुरुषोत्तम है!
मानव से श्रेष्ठतर था, न है, न होगा कुछ; श्रुति, स्मृति साक्षी हैं।
अक्षय तूणीर बना जन्मान्तरागत संस्कारों का,
सब पर बरसाता ही रहता अजस्र वह वाणी के वाण है।
जिह्वा बनी उस की शत-शत कृपाण है।
उद्धृत करता कोई उससे जब वेद या कुरान है।
इस कान से ध्यान से सुनता, देता निकाल उस कान है!
अच्छा है, कान आमने सामने दो हैं,
धरती भले ही हो नर्क, गर्क; रहने को चांद विद्यमान है।
मंगल का भी अब तो सफल अभियान है!
त्राण-हित अवतार की क्यों करे पुकार, वह तो स्वयं ही भगवान है!

(५३)

नहीं चाहिये दिल किसी का चुराना,
नहीं चाहिये दिल किसी का दुखाना ॥
मना है नहीं दिल किसी से लगाना,
मना है नहीं दिल किसी का जुड़ाना ॥
सही है, न फिर लौटने की जवानी,
सही पर न हरगिज लुटाना जवानी।
यहाँ है लगा नित्य मँगतों का ताँता,
सदावर्त्त का भी चुकेगा खजाना ॥१॥

न तुम ही, यहाँ लुट चुके हैं हजारो,
न कोई सुनेगा बुलाओ; पुकारो।
छिनेगी कमाई, मिलेगी हँसाई,
जलेगी भलाई, जला है जमाना ॥२॥

बहम सब मिटाओ, अहं अब हटाओ,
रहम माँगते मूढ़ किस बेरहम से?
पटाओ, चटाओ न मन्त्री किसी को,
भरेगा न अब पेट भर पेट खाना ॥३॥

पढ़ाई से अपने को क्यों आँकते हो,
सड़क पर सरक धूल क्यों फाँकते हो?
कभी झाँकते क्यों नहीं देहली जा,
कठिन अन्यथा उच्च पद आज पाना ॥४॥

वृथा है यहाँ कुछ बढ़ाना, घटाना,
मृषा है यहाँ कुछ हटाना, जुटाना।
यहाँ तो रहा चल पुराना तराना,
तुम्हीं चाहते क्यों नया गुल खिलाना ॥५॥

करो कुछ, कहो कुछ यही चातुरी है,
रहे राम मुँह में, बगल में छुरी है।
यही राजनीतिक महत्तम धुरी है;
बहुत पड़ चुका मार्ग तप का पुराना ॥६॥

पिता जा रहा पुत्र की लात खाता;
न पर पाप कर धन कमाता अघाता।
विधाता दिखाता महामोह नित नव,
न नर पाश पर चाहता यह छुड़ाना ॥७॥

जीवन न उपवन यह, कानन है; फूल नहीं, काँटा है।
माला गले में न मानव के, गाल पर चुम्बन नहीं, किस्मत का चांटा है
भ्रम है कि बोया है, जिसने जो, वही उसने काटा है।
काँटों के साथ बदरीवन में फल भो तो मधुर बहुत मिलते हैं !
केवड़े में काँटों के बीच गन्धमादन कुसुम भी तो खिलते हैं !
जीवन के सौदे में हाय ! मगर घाटा ही घाटा है।
मानव से उच्चतर कोई भो सत्ता नहीं जगती में, कहते हैं।
पर मुझको लगता है, मानव से भिन्न सभी जीव सुखी रहते हैं।
जब तक हैं जोते, अचिन्त सभी; कोई तनाव नहीं,
मृत्यु और जीवन के बीच न दुराव न छिपाव, बहुत भाव-ताव, हाव-भाव;
घाव भले हों तन पर उनके कुछ, पल पल में इतने पर दाव नहीं।
सम शिश्नोदर-सुख प्रकृति माँ ने बाँटा है, बिरला ही बिरला या टाटा है !
शंकर, चार्वाक, मार्क्स पोथियाँ लिखें लाखों,
मानव का जीवन है प्रान्तर सपाट रेत; दिखता चतुर्मुख सन्नाटा है।
राम, कृष्ण, बुद्ध, महाबीर, ईसा या गान्धी,
उद्घात खात दैव का किसने पाटा है ?
मृगतृष्णा-स्वादन में, सेमल-सुमन में इस किसको क्या रस मिला ?
खारा है नीर ही भवाम्बुधि का, चित्तवृत्ति झंझा में कहीं कोई ज्वार नहीं,
बस केवल भाटा ही भाटा है ॥

(५५)

अरे ! मन, कौन यहाँ है तेरा ?

पति, पत्नी, सुत बित सब झूठे, झूठा तेरा-मेरा।
कल सब अपनी राह धरेंगे, यह जग रैन बसेरा।

चारों ओर तुम्हारे छाया माया का अन्धेरा।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर प्रत्येक लुटेरा।

आज दुःख, कल सुख है यह आशा ठगिनी का फेरा।
पड़ न जाल में मूढ़, यहाँ से कूच करो अब डेरा ॥

काठ ही न, निपट कुकाठ, करीर हूं मैं ।।

मैं न मानव, किन्तु मानव की खली, वह भी न कोल्हू की पिसी हूँ।

स्नेह उस का सब कदापि न निचुड़ पाता,
कुछ न कुछ बच पशुजनों के काम आता।
मैं खली तैयार विद्युद् यन्त्र द्वारा की गई वह,
स्नेह का अणु मात्र जिसमें रह न पाता।
प्यास पथिक! बुझा सकोगे पी न मुझको,
जलधि का दुःस्वाद खारा नीर हूँ मैं ।।१।।

दोष पत्थर को लगाना व्यर्थ है, उत्तप्त होता सिर्फ आतप-तप्त हो वह,
देखते ही क्या न ओस पसीजता फिर?
फूटते निर्झर अजस्र कठोर गिरि के भी हृदय से
क्रूर-सदय कठोर-कोमल से विषमतर
उपल-तल पर खिंची वक्र लकीर हूँ मैं ।।२।।

साँप हो सकते न हैं खल सदृश मेरे, बिच्छुओं से मैं बहुत आगे बढ़ा हूँ।
दंश, मशक सता सकेंगे निठुर जग को क्या बिचारे?
बाकलम शैतान की तहरीर हूँ मैं ।।३।।

(५७)

जो प्रेय वही हो श्रेय, न ऐसा होता है, उपनिषद् न यूँ ही बकती है।
मिल जाएँ दो रेखाएँ अगर समानान्तर,
तो जीवन की गाड़ी रुक तुरत लुढ़कती है।।
क्या निष्ठुर है ऐसा या दैव अपण्डित है?
पर तर्कशास्त्र से सब खण्डित भी मण्डित है।
जो हो; जीवन में ऐसा अवसर आता है।
पर हाय! दैव की है बिडम्बना कुछ ऐसी,
शत प्रतिशत हित भी घोर अहित सा भाता है,
जब समझ दालदा घी को हम ठुकराते हैं,
घी समझ दालदा बड़े प्रेम से खाते हैं।
कुछ तो ऐसे भी होते हैं शौकीन लोग

जो तज अनार भी बड़े चाव से अमड़ा अम्ल चबाते हैं।
गो-दुग्ध छोड़, ताड़ी से जिया जुड़ाते हैं।
यदि चाट रहा इमली कोई,
तो देख उसे बहुतों के लार टपकती हैं ॥१॥
मैंने भी कुछ दिन यह शौकीनी पाली थी,
तब गदहपचीसी में था, मति मतवाली थी।
जब लौटा बहुत भटक कर फिर चौराहे पर,
तब श्रेय प्रेय थे उभय हाथ से निकल चुके।
अपराध श्रेय का अरे! प्रेय भी बन जाना!
परिणाम-सुखद आपात-मधुर हो जाए तो क्या क्षति है?
ब्रह्माण्डवृत्त रेखा की ऐसी टेढ़ी ही क्यों गति है?
नरतन-नर्त्तन से प्रकृति-नटी दिखती न कभी यह थकती है ॥२॥
मैं कहता हूँ प्रह्लाद साँढ़ थे किस्मत के,
छोटे को छोटा कहा और छुट्टी पाई।
माना कि प्रश्न यह था आत्मज के जीवन का,
पर हालत पतली वहाँ सत्य की हो जाती,
सच को भी सच कहने में जिह्वा थर्राती।
यदि बड़ा विरोचन होता कभी सुधन्वा से,
तब भी क्या यह प्रह्लाद सत्य कह सकते थे?
तब भी क्या जनता उन्हें सत्यवादी गाती या पतियाती?
संसार-राहु ग्रसता न यशोविधु को उनके?
थे सभी यक्ष के प्रश्न युधिष्ठिर से टेढ़े,
आनन फानन में दिया सबों का तब उत्तर।
जब भरी सभा में प्रश्न द्रोपदी ने पूछा,
तब सभी निरुत्तर हुए युधिष्ठिर, द्रोण, भीष्म!
मैं भुगत चुका हूँ बहुत, सुनो कुछ मेरी भी,

घर वाली को ही सभी ताड़ना देते हैं,अपराध भले हो कार्यालय के साहब का।
है धर्म-भीरुता की भी अति कम बुरी नहीं,
मुझको तो सच्चा श्रेय प्रेय ही लगता है।
क्यों "खट्टे हैं अंगूर" कहूँ मैं सुन सब से,
जब षट्पद सा मैं पात पात जा सकता हूँ ?
अंगूर चुला कर भी शराब बन सकती है,
उपनिषद् सत्य को ढकती है,
जगती उसका लख पात्र हिरण्मय छकती है ।।३।।

(५८)

यह भी क्या कोई जीना है ?

है मूल्य नेह का माँग रहा जब स्वयं सखा ही बनिया बन,
तब क्यों न प्रेम का भी क्रय-विक्रय करें हाट में अन्य सुजन ?
देता न किसी को कोई कुछ, सब ने नित सब से छीना है ।।१।।

क्या गृह न ग्राह, ग्रह, कारा यह, दारा न बडिश का चारा है !
रिपु पूर्व जन्म का उत्तमर्ण या आया बन सुत प्यारा है !
परिजन प्रतिभट, जग युद्धभूमि, दिन लगता हुआ महीना है ! ।।२।।

पशुपति के पालित पशु हैं हम, बँध खड़े पाश में माया के।
शोषण बलदोहन-हित समाज पोषण में रत इस काया के।
सुख-दुख तृण चर, रोमन्थ चबा, आविल कुल्या-जल पीना है ।।३।।

मृति, जरा, व्याधि, बध, छल, लुण्ठन मात्सर्य,रोष,घिन,मोह, लोभ।
इन दंश-मत्कुणों से प्रतिपल है जीवों में कण्डूति, क्षोभ।
नन्दन न अरे ! यह क्रन्दन-वन, आवरण-वसन पर झीना है ।।४।।

शासन हैं तीन समानान्तर, छात्रों, विधायकों, गुण्डों के,
इन तीन चक्कियों में पिस पिस जनता कराहती रहती है।
लगता है इनके ही डर से कल्की भी अब न पधारेंगे।
करती अनीति सरकार नीति की बातें मुँह से कहती है।
फल चखता कोई और, बहाता कोई और पसीना है ।।५।।

तस्कर, लुण्ठक ये सभी सहोदर भाई ॥
डाकू, गुण्डा, आरक्षी, नेता, लिपिक, वणिक, मठपति, अफसर,
ये रक्तपान करने वाले कृमि, मशक, दंश, खटमल समान।
नेपथ्य भले हों भिन्न भिन्न, पर मंच एक श्रम बिना स्वादुतम अशन पान।
बल-दोहन प्रजा-धेनु का सतत बिना चारण।
आमिष खाएँ या दूध पियें, हैं सभी परन्तु कसाई ॥१॥
कोई सीधे, कोई रक्षक बनकर भक्षक,
बढ़ एक एक से नाग, सभी विषधर तक्षक।
ये छोड़ न छाया कभी धूप में आएँगे,
अपनी रोटी अपने से नहीं कमाएँगे।
ये प्रगति-सरित् की जल-कुम्भी, सेवार; घाट की काई ॥२॥
पैसे के हित ये सभी पाप कर सकते हैं,
करते कुछ, मन में रखते कुछ, कुछ बकते हैं।
ये महावीर, हरि, हर दर्शन का दम्भ करें,
पर विषय-भोग करते न कभी ये थकते हैं।
हैं धूल झोंकते आँखों में, इनकी है यही कमाई ॥३॥
ये शेष द्विजों, द्विपदों से ही उड़ते रहते,
हो स्तेयवृत्ति से स्वार्थ-पूर्त्ति में ही तन्मय।
दे देशभक्ति, लोकोपकार का छल-नारा,
पलपल पगपग पण लक्ष कोटि जोड़ते अदय।
बस शिखर इन्हें दिखता, नीचे खाई पड़ती न दिखाई ॥४॥
है मकड़जाल बैठे विशाल ये फैला कर,
कचहरी, महालेखा कार्यालय सचिवालय,
थाना, आश्रम, दूकान, शिवालय, विद्यालय वा अस्पताल।
कोई महाल हो, बहर हाल बस यही हाल है।
जनता चपेट में पड़ी बाढ़ की रहे म्लान,
या सूखे से ही पेट बाँध विललाती हो।
दंगे से क्षण क्षण मरें जलें नर शलभ-सदृश
भारत माता क्षत विक्षत हो चिल्लाती हो।
एजेन्ट, धर्मगुरु, डाक्टर, अधिवक्ता, दलाल,

इनके घर में बजती रहती शहनाई ॥५॥

दुनियाँ खाली, खाला का घर कभी न लाला।
धूल झोंक आँखों में यश भी मिला धूल में डाला,
करते तनया तनय, तात का पर होता मुँह काला।
जनमाएगा जनक कौन किस सुख हित बेटा बेटी ?
बनती जाती सास बहू की जननी सुत की चेटी ?
कौन सिखाये ? लगा हाय ! वृद्धों के मुँह पर ताला ॥१॥

क्यों संतति के हेतु देवता पितर मनाते ?
क्यों प्रसाद सन्तों का, तीर्थों का हैं लाते ?
क्यों कर तुम पुत्रेष्टि, स्वयं अन्त्येष्टि सजाते ?
सावधान ! मत भूल कभी संतति जनमाओ।
बनो बाँझ, कहना मानो, जप उलटी माला ॥२॥

बिखर चुके हो टूट फूट भीतर भीतर क्या ?
चुक जिजीविषा रही सखे ! पल पल सत्वर क्या ?
मांस, रक्त सब सूख चुका पिपतिषित देह है ?
गूदा निकल चुका, छिलके सा पड़ा नेह है ?
स्वयं उषा ही निगल दिवस का गई उजाला ॥३॥

घोर शत्रु भी पूर्व जन्म के इस जीवन में
आते ऋण-प्रतिशोध हेतु हैं बन कर अपने
पोस पाल देती मुग्धा काकी कोकिल को
सँजो सुनहले मन में कैसे कितने सपने ?
अरे ! कर्कटी उन डिम्भों को धारण करती,
पेड़ फाड़ कर ही जो माँ का बाहर आते।
सृष्टि चक्र ही यह अजीब गड़बड़-घोटाला ॥४॥
दुनियाँ है खाली घर, कोई यहाँ न खाला ॥

(६१)

किस्मत का सब खेल लाल हो, किस्मत का सब खेल।
एम्.एस्सी. कर होता कोई मिड्ल स्कूल का टीचर,
बी-एल. कर कोई होता आफिस का क्लर्क फटीचर।
और आइ.ए. बने एडिटर लिख कुछ पोएम फीचर
कुछ न मिला तो बने कामरेड कम्युनिज्म के प्रीचर।
एम्. पी., एम्. एल्. ए. बनते पर कुछ केवल जा जेल ॥१॥

हिन्दू मुस्लिम दंगे में कुछ कत्ल हुए नर-नारी।
छोड़ अटारी, फर्म बने कुछ फेरे के व्यापारी।
बाढ़ और सूखे से कितने भूखे बने भिखारी।
कैन्सर, टी०बी०, पौक्स, पीलिया, कलरा का कर भारी।
ब्लैक मार्केटियर कोटिपत्ति बनते दे दे बेल ॥२॥

कोई पावदान पर भी गाड़ी के जगह न पाता,
कोई जा घुसता भीतर पर अंग-अंग छिल जाता।
कुछ भीतर से ठेल रहे, कुछ बाहर रहे धकेल,
बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ बीच में खड़े मुसीबत झेल।
लीडर को पर प्लेन, कार या मिलता स्पेशल मेल ॥३॥

फाइव ईयर्स प्लैन पड़े सड़ रहे खटाई में ही,
ठिठुर रहे कंकाल-शेष कंगाल चटाई में ही।
बेकारी, भीषण मँहगी, दारुण अकाल, हर बार,
डालर ऋण, दुर्वार भार, सिर पर है सदा सवार।
फिर भी फारेन एम्बैसी में चलता नित्य कुलेल ॥४॥

(६२)

मित्र कविता वस्तु है ऐसी न कोई,
राह चलता जो बजा कर चुटकियाँ मैं भुनभुना लूँ!
यह न रेखाचित्र या कार्टून कोई, खींच एक लकीर जो पल में बना लूँ।
यह न कोई बार-वनिता अभिसरण प्रिय,
कनखियों से मुसकिरा या फिर टका की छवि दिखा जिसको मना लूँ!

भावनाएँ मधुर पल पल नाच जातीं, रङ्ग-भूमि बना हृदय को,
और विस्मृति को यवनिका !
तडित् सी, या अप्सराओं सी कभी जब,
और कामों में किन्हीं खोया अनवहित चित्त होता ।
पीठ पीछे एक से हैं एक सुन्दर बिम्ब आ आ चपल शिशु से झाँक जाते ।
लेखनी ले किन्तु ज्यों मनुहार करने बैठता मैं,
कनक-मृग से हैं छली प्रत्यय सभी ये भाग जाते
बात ही कुछ और है तरतीब से इनको पकड़कर गूँथ देना,
रीति-रत हो, किसी गुण में किसी रस से स्निग्धतर कर ।
तैरते रहते सदा ही बादलों के बहुत से शावक गगन में,
तितलियों से, कुछ इधर से, कुछ उधर से ।
किन्तु धरती की हवा जुड़ने नहीं देती उन्हें कि बरस सकें वे,
और धरती ही स्वयं उनसे जुड़ाये !
खेलना भी व्योम में इनका न पर कम काम्य होता,
देखने आते बहुत से लोग कैसा डूबता उगता यहाँ रवि,
गिरि-अतट या सिन्धु-तट पर !
सच कहो,तो वे विमुग्ध निहारते हैं सतत मेघ-किशोरियों की मृदुल छवि,
नव नव किरण, क्षण क्षण रुचिरतर वसन भास्वर ।
पहुँच जो कवि-कल्पना-कादम्बिनी-धारा नहीं पाती धरा तक
ताप वह भी है मिटा देती पवन का, गगन का, मन का, भुवन का ।
चाहता मैं भी गिना जाऊँ सवारों में इन्हीं कवि शेखरों, कवि-जलधरों के;
अश्व, गर्दभ, अश्वतर, आखिर सभी तो हैं न बन्धु, सवारियाँ ही ?
मूल शंकर का न, संकर का अधिक है,
अब न सेवक, बढ़ रहा जनता-जनार्दन का वधिक है।
है बड़ा वह लात मारे विष्णु को जो, जो उठा कैलास को शिव के दहाड़े ।
एक दाँत गणेश का भी जो उखाड़े ।

मत्सियों सी हैं नहीं रंगीन मानस में उछलती तैरतीं भावोर्मियाँ ये;
अनायास जिन्हें यथारुचि मैं पकड़ लूँ, या बझा लूँ !
और चिड़ियाँ भी न वे उड़ती गगन की, फेंकने से जाल उसमें आ फँसे जो।
सर्वथा स्वच्छन्द परियाँ स्वर्ग की वे,
स्वयं धरती पर जहाँ जब चाहती है, उतर आती।
देख मानस-अजिर सुन्दर या किसी का दो घड़ी बस,
बिहर, कर जल केलि, अपने लोक को फिर लौट जाती।
मैं इन्हें अभिनेत्रियाँ कैसे बनाऊँ? रंग-मंच सजा रखूँ,
नेपथ्य में फिर भेजकर सकेत जब चाहे बुलाऊँ?
कवि अकवि कोई न दोनों में; भला मैं
किस तरह कविता अकविता या बनाऊँ?
लो गीत न बन्धु ! यह आकाशवाणी का, न अथवा चित्रपट संगीत ही है,
स्नान-घर में घुस जिसे मैं गुनगुनाऊँ?
मोल 'ना' 'नू' कर बढ़ा, या वन-भ्रमण में,
साथियों को होठ बिचका कर सुनाऊँ, वक्त पड़ने पर भुनाऊँ।
जनक हैं पर्जन्य, सविता अन्तरिक्ष द्युलोक, प्रिय
जननी हमारी स्वयं यह विश्वंभरा है।
उत्स दोनों अमर, अनुपम काव्य-कृषि के,
नभ सिरजता चांद, तारे, व्योम-गंगा, इन्द्र धनु है,
शैल, निर्झर, नद, नदी, सर, फूल, फल, तरू, दल, शलभ, मृग, मीन, खग,
चर-अचर अवनि उरेहती है।
और उनकी सर्वप्रिय संतान हूँ मैं,
सत्य, शिव, सुन्दर उन्हीं के देवकाव्य समान मेरी हाय ! क्यों होती न रचना,
अभिप्राय अभौम भी क्यों उतर अन्तर में न रसनारूढ़ होते?
क्यों गतश्री, पर्युषित, विषतिक्त हो, रस-हेतु रोते !
क्यों न मेरी किरण उन में रंग भरती?
क्यों न मेरा रस हरित है क्रान्ति अथवा कान्ति लाता !
क्यों कभी न प्रयोगशालोद्यान में
कविता कुसुम, मेरे मनोरम-सुरभि खिलता?
भुवन-मंगल-यज्ञ-हित जो ग्रथित वन्दनवार होकर द्वार बनता,
जिसे सुनती प्रेम से उत्कर्ण होकर देश की निःशेष जनता !

धैर्य निज श्रोता न खोता, मैं कभी थकता, न सोता,
जी न श्रावक का अघाता, मैं कभी रुकता न गाता।
एक वे हैं, जिन्हें कविता ही प्रगल्भा कामिनी सी,
स्वयं आकर इस तरह लेती दबोच,
कि वे न जीवन भर छुड़ाते पिण्ड उससे छटपटाकर भी कभी हैं।
खत्म हो पाती कभी जिनकी न कविता,
पिण्ड जिनसे कवि-सभा का ही छुड़ाना कठिन होता,
व्याज-तुल्य अमेरिका के। भाग जाएँ भले श्रोता,
पर सुनाने का न धीरज टूटता कवि का कभी है।
एक मैं हूँ देखते ही जिसे वह है भाग जाती, फेर कर मुँह,
गिड़गिड़ाऊँ, हाथ जोड़ूँ, मिन्नतें करता रहूँ मैं लाख चाहे,
अपहरण भी यदि करूँ मैं पञ्चपतिका का जयद्रथ ने किया ज्यों,
भीम सा है जगज्जाल तुरन्त पथ से छीन लाता,
सामने दो चार ही ज्यों पग बढ़ाता।
सोचता, यदि कवि न कविता-कामिनी का; हानि कुछ न,
सुवर्ण-मृग ही उछल शाखामृग बनेगा,
नाम रूप न भिन्न कवि कपि के अधिक हैं।
और तब साहित्य को मैं एक अभिनव मोड़ दूँगा,
लीक अब तक की अलीक चली, उसे मैं छोड़ दूँगा,
अश्वतर को ही करूँगा, सिंह को न कदापि मैं,
अभिषिक्त रिक्त मृगेन्द्र पद पर।
उसे धीरोदात्त नेता बना काव्य, प्रशस्ति, अभिनन्दन लिखूँगा।
इस उपेक्षित जीव को अपनी बना कर मैं सवारी,
रुग्ण एक परंपरा को तोड़ दूँगा; शीतला, ईसा उभय से होड़ लूँगा।
और अब मतदान के अभियान में अगले हमारे,
निर्दलीय चुनाव चिह्न यही रहेगा।
रूठना तब छोड़ कविता भामिनी भी मान कर खुद,
आ इसी की रेंक की सगत करेगी।
शोषितों, प्रतिक्रिया-हीन सहिष्णुओं का मुक्तिवाहन यह बनेगा।
और तब मैं भी सवारों में गिना जाने लगूँगा।
यदि हुआ संसत्सदस्य, अवश्य मन्त्री भी बनूँगा एक दिन मैं,
सात पिछली आठ अगली पीढ़ियाँ मेरी तरेंगी,

स्वर्ग से आ अप्सराएँ डाल जयमाला गले में,
और कुछ इह लोक की मणि-रमणिया भी, होड़ बद मुझको बरेगीं,
क्यों कि स्विटजरलैण्ड में, भूस्वर्ग में मेरो सतत निधियाँ भरेंगी।
यदि बना मैं मुख्य मन्त्री, राज्यपाल, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति या,
हंस रहे क्यों सब अरे! मेरा कथन सुन,
अल्पसंख्यक बर्ग का मैं क्या न प्रतिनिधि?
क्या न यह सर्वोच्च गुण है इन पदों के हेतु घोषित?
क्या बना गणपति गजानन का न वाहन मूष पोषित?
वाह! यह तो मिला मुझ को विषय ऐसा,
रहूँ अपने आप को ही मैं सुनाता,
फुसफुसाता, बुदबुदाता, रहूँ अपने आप में ही,
गीत अपना ही रहूँ मैं सदा गाता,
हो न चाहे सामने बैठा रसिक श्रोता, निकम्मा सिर हिलाता,
सिर खुजाता, ऊँघता, निद्रा-ग्रसित या नाक ही खरखर बजाता!

(६३)

भैया! लगता मैं बैठा हूँ, छाया में तेरी ही शीतल परिहास-मुखर।
हाय! न हायन एक पूर्व, तज हमें गये इस कलि से, क्षिति से अमरलोक तुम!
दुख के भी दिन क्या बीत शीघ्र इतना जाते!
वात्सल्य शीत कर स्वजन दूर भी देशकाल से रह रहते हैं बरसाते!
तुम अब भी मुझे वितन्तु स्नेह-रस भेज रहे?
जीवन को टूट बिखरने से मेरे प्रतिनिमिष सहेज रहे!
वह रस न तुम्हें पर बाँध हमारे बीच रख सका,
और पाँच छह संवत्सर? भैया० ॥१॥
क्या दिखा तुम्हें मुझ में कुछ औदासीन्य
अरुचि, उत्साह, प्रेम, रस का अभाव?
कैसे जिजीविषा चुकी वीर! उत्साही की तेरे जैसे,
किस भाँति मृत्यु का तुम पर भी चल गया दाव?
क्या हुआ राम को कभी लखन पर संशय?
या कैकेय भरत पर अविश्वास?
मैं तो छाया ही सा था नित तेरे पीछे,
तुम ने असमय क्यों जीवन का तज समर? ॥२॥

गईं, वल्लभा गईं, पिता भी गये, और लगता है सहसा रूठ तात !
गति-विधि से मेरी तुमने भी है किया महा प्रस्थान।
जीवन-संग्राम लड़ूँ मैं ही क्यों एकाकी ?
सीठे जीवन में दर्शनीय अब क्या बाकी ?
होली की झोली में क्या मेरे लिये रखा,
मैं ही क्यों होऊँ अजर, अमर ? ॥३॥
मानव-जीवन-राका में भी अविराम-राम-पीयूष-किरण
का प्राप्त न हो पाता प्रकाश।
दैहिक, दैविक, भौतिक आमय घेरे रहते,
शैवाल-तुल्य सर में, नभ में घन-शकल-सदृश,
लड़ते चिन्ता, शङ्का, विषाद, आलस्य षडरि मुझसे संतत
रहता लगता पग पग में डर ! ॥४॥

(६४)

श्रीपति तुम पति-पत्नी का चिर कल्याण करें।
शिव अनुकम्पा कर दम्पति का नित त्राण करें॥
शिशु-लीला अब यौवन-गुरुता में है परिणत
रहना तुम को कर्त्तव्य मार्ग पर है जाग्रत
कुछ संबल ले गृहिणी देखो करती स्वागत॥
माना फूलों सा मधुर, सुखद ज्यों चन्दन है,
रसमय विवाह दायित्व पूर्ण पर बन्धन है।
रेशम डोरी में राजा-रानी बँध जाओ।
खाओ, खेलो पर मत समाज को बिसराओ॥

(६५)

मानस से चुन चुन ले ले सुवरण कोमल दल अरुण कमल।
स्नेह सूत्र में सघन पिरो कर निर्मित यह माना शुभ पल ॥१॥
हर्ष-वर्ष से उमड़े लोचन-जल से प्रक्षालित निर्मल।
आज बधाई में देने को तुम्हें प्राण हो रहे विकल ॥२॥
जीवन के स्वर्णित प्रभात में तुम्हें देख कर आज खिला।
हृदय-सुमन उपहार तुम्हें दूँ, किन्तु क्या न वह तुम्हें मिला ॥३॥
मित्र-वधू के सम्मुख पर मैं दीन रखूँ क्या भेंट सखे !
लज्जावश यह गिरा पत्र भी देना तुम्हीं समेट सखे ॥४॥
अभिनन्दन पञ्चक मेरा यह अपना लेना।

जाग्रत दे दो उसे, मुझे बस सपना देना ॥५॥

निःस्व मित्र हूँ, किन्तु विप्र मैं विश्व-कोष का अधिकारी।
आशीर्वचनों की तुम पर मैं वार रहा निधियाँ सारी॥
चिरजीवी हो तुम, जीवन में तन मन धन से सुखी रहो।
यह सुहाग की रात उसे अक्षय सुहाग दे बरस अहो॥
स्वर्ण-पाश यह, बँधो खुशी से; मर्यादा यह, बन्ध नहीं।
मोह-नदी यह शीतल, होना डूब किन्तु तुम अन्ध नहीं॥
माता, पिता और गुरुजन के बनी रहे रति चरणों में।
भूल न जाये मातृ-भूमि नव-ऊढा के आभरणों में॥
लक्ष्मी आवे, किन्तु सपत्नी बनने कभी न वह पावे।
दासी बन तुम दोनों के इंगित पर ही अविरत धावे॥
अरमानों के फूल तुम्हारे परिणत हो जाएँ फल ही।
पूरी हो कामना आज की तेरी अभी न तो कल ही॥

(६६)

आओ बच्चो! तुम्हें दिखाएँ झाँकी नेतरहाट की।
जहाँ खड़ी है शान दिखाती शैले कोठी लाट की॥
पूरब में है शोभित बँगला पाँच अतिथि, रहते आकर।
जंगल में मंगल फैलाता इधर खड़ा है बिजली घर।
सूर्योदय का दृश्य पलामू बँगले का मशहूर उधर।
जहाँ कलम़ सरपट दौड़ेगी दिनभर कवि-सम्राट् की॥१॥

चलो बतायें हम, चलो घुमायें हम॥
पच्छिम में है फार्म, वहीं से दूध हमारा आता है।
अपर घाघरी की शोभा लख, मन कितना सुख पाता है।
लोअर घाघरी पड़ा दूर दर्शक का जी तरसाता है।
अनुपम है सूर्यास्त छटा सचमुच मैग्नोलिया घाट की॥२॥

उत्तर में थाना, दक्खिन में अस्पताल है सरकारी,
ताल पास में पूरी करता माँग पेय जल की सारी।
बुनियादी शिक्षाशाला भी हुई पास में है जारी।
फौरेस्ट हाउस ऊपर सुन्दर वहाँ बगल में बाट की॥३॥

दक्खिन को है राँची जानेवाली पक्की सड़क गई।
दोनों ओर सड़क के जंगल, पर्वत, झरने, ताल कई।
नये वन्य पशु देखो, सुन लो चिड़ियों की आवाज नई।
इनसे ही हो गई राह मरवई, बनारी हाट की ॥४॥
चलो दिखायें हम, चलो घुमायें हम ॥

(६७)

करूँ प्रशंसा कितनी; कितने दूँ उपमान उँड़ेल।
तू ही है तेरे समान रसखान अनोखे बेल ॥१॥

फल हविष्य है, पावन तन, कहलाता मंगल-मूल।
विधि ने पहनाया प्रसन्न हो मृदुदल हरित दुकूल ॥२॥

पिहित पात से गात, बाट काँटों का दुर्ग विराट्।
नत-शिर भीत निकट जाते जन तेरे तरु-सम्राट् ॥३॥

अनायास बम गोला फल, प्राचीर अभेद्य शरीर।
राजाओं के बड़े काम का है तू प्रहरी वीर ॥४॥

अन्नहीन दीनों का तू आधार, मधुर आहार।
आशुतोष शिव का तू है प्रिय मन्त्रपूत उपहार ॥५॥

भीतर मृदु, बाहर कठोर है तेरा सन्त स्वभाव।
है समूल ही तुझसे शिव की ममता और लगाव ॥६॥

कोष्ठबद्धता-हेतु पका फल तेरा नित अनुकूल।
अग्नि-पक्व तू आँव पुराना कर देता निर्मूल ॥७॥

पत्र तुम्हारा हर लेने में रोग अनेक समर्थ।
सचमुच श्रीफल नाम तुम्हारा पड़ा नहीं है व्यर्थ ॥८॥

ग्राम बालकों का कन्दुक सा बाल बेल तू खेल।
अलबेली के नव उरोज-कोरक से तेरा मेल ॥९॥

पर्ण वसन से ढके ढीठ ये डोल रहे फल गोल।
झाँक रहा अंचल से उत्सुक ज्यों यौवन अनमोल ॥१०॥

प्रकृति-परी ने लगा लिया है काँट कपाट अटूट।
निधि नव उसकी मत अपात्र ले जाये कोई लूट ॥११॥

माया सा ही चिपक सभी से जाता तेरा लस्सा।
कण्टकमय रूखा शरीर, तिस पर उंह! इतना ठस्सा !॥१२॥

(६८)

नापाक पाकिस्तानियो जाओ निकल कश्मीर से।
क्यों कर रहे खिलवाड़ पाकिस्तान की तकदीर से॥
नुकसान पहुँचाते रहे तुम और हम सहते रहे।
तुम हो तनुज या अनुज, बस यह सोच, चुप रहते रहे।
पर जान लो यह झुक न सकते हम किसी तदबीर से ॥नापाक०॥१॥

है युद्ध से हम को घृणा, पर चुप रहा आह्वान है।
प्रिय पञ्चशील, परन्तु प्रियतर राष्ट्र का सम्मान है।
सिर फोड़ते टकरा स्वयं क्यों वज्र के प्राचीर से ॥२॥

है रूस और अमेरिका दोनों तुम्हें पहचानते।
विश्वासघाती चीन कों तुम सुहृद सच्चा मानते॥
कश्मीर कट सकता न भारत के कदापि शरीर से ॥३॥

(६९)

भक्ति के भूखे हैं भगवान्।
भक्त हेतु अवतर सहते दुख नाना कृपा-निधान॥
जप तप का ज्ञानी मुनियों के मन्द पड़ा अभिमान।
सूखे बेर चखे शबरी के प्रेम-पूत अति जान॥१॥

गुह निषाद, क्रव्याद विभीषण, कपि सुग्रीव, हनुमान्।
बना सखा दुर्लभ पद प्रभु ने दिये नेह पहचान॥२॥

दुर्योधन का षड्रस भोजन, तज मेवा मिष्टान्न।
केले के छिलके खा हरि ने किया विदुर का मान॥३॥

पास माँ, मेरे कब तक तू आएगी ?
कब गले से मुझे तू लगाएगी;
प्यार से गोद में कब बिठाएगी ?

ठोकरें खा बहुत मैं गिरा, हारा।
धूल में लोटते दिन गया सारा।
आ मुझे धूल से कब उठाएगी ?
पास अपने मुझे कब बुलाएगी ?।१।।

झिड़कियाँ, मार कितनों की मैं खा चुका,
गोद लेने को बहुतों से रो गा चुका।
अब मुझे और कितना रुलाएगी,
लोरियाँ गा मुझे कब सुलाएगी,
थपकियाँ प्यार की दे रिझाएगी,
गीत मीठे मुझे कब सुनाएगी ?।२।।

राह तेरी निहारी बड़ी आस से,
मुँह में डाला न क्या भूख से, प्यास से !
दूध अपना मुझे कब पिलाएगी,
चूम कर फिर मुझे कब हँसाएगी ?
उँगलियाँ धर मुझे कब चलाएगी,
सिंह-शिशु सा प्रबल कब बनाएगी ?।३।।

जब से बिछुड़ा हूँ तुम से बहुत रोया,
भटकता ही रहा, पन्थ भी खोया।
कब मुझे ढूँढ़ कर पास आएगी,
याद मेरी तुम्हें कब सताएगी ? ।।४।।

खेलने को तनिक घर से निकला था मैं,
खेल में भूल घर बार बिसरा था मैं।
तू भी क्या मुझ को यूँ ही भुलाएगी ?

क्या दया भी तुझे अब न आएगी ? ।।५।।

(७१)

काल्हा दौड़, दौड़, दौड़ !

बचपन के हम, तुम हैं साथी, यह है बात और।
अब मैं पथ का झुग्गीवाला, तू है महापौर ॥१॥

थका पड़ा मैं बीच धार में, पाता नहीं पौड़,
कहाँ तनिक सुस्ताऊँ, दिखते चारो ओर भौर ॥२॥

बना चाहता परसों कल या आज मौत का कौर।
क्या अभिनेय बता झट बाकी, नटवर ! पूरी तौर ॥३॥

कनक मनोमृग मेरा भटका फिरता ठौर ठौर।
चुरा सके क्यों उसे पश्यतोहर न चौर सिरमौर ॥४॥

(७२)

मन तू काहे को होता अधीर है; कहता जब तेरा मीत यदुवीर है।

जिसने कारा से माता-पिता को उबारा।
कंस, चाणूर, मुष्टिक को साथ पछाड़ा।
किया कुबड़ी का सुन्दर शरीर है ॥१॥ कहता ॥

ग्वाल बालों के संग जिसने गाय चराई।
रास लीला भी गोपियों के साथ रचाई।
जिस से नत शिर हुआ शुनासीर है ॥२॥ कहता ॥

रुक्मिणी को था रुक्मी चेदिप से छुड़ाया,
ब्रह्मशर से भी गर्भ उत्तरा का बचाया।
द्रौपदी का अनन्त किया चीर है ॥३॥ कहता ॥

ला दिया गुरु के सुत को जा यम के भी पुर,
बिना माँगे सुदामा को धन दिया प्रचुर।
किया पावन विदुर का कुटीर है ॥४॥ कहता ॥

भीम द्वारा मदान्ध जरासन्ध को मारा,
भौम, कालयवन, बाण सब का गर्व उतारा
हरी धरती की, दीनों की पीर है ॥५॥ कहता ॥

पार्थ का हाँका रथ, बहन से ब्याह कराया।
छुआ तक न अस्त्र और कौरवों को हराया।

ब्रह्म है, किन्तु बनता अहीर है ॥६॥ कहता ॥

(७३)

कृष्ण ! अर्जुन सा मुझ को बना लो सखा,
बात सुनता मनोरथ है मेरा नहीं।

जब भी जीवन-समर में डरूँ या टरूँ।
कर्म संशय में, दुविधा में, भय में पड़ूँ।

कर कें सारथ्य मेरा दिखा जाओ पथ,
सामने मेरे छाये अँधेरा नहीं ॥१॥

द्वेष से, राग से मुक्ति हो, साम्य हो,
कर्म यज्ञार्थ ही हो, नहीं काम्य हो।

भोग में डूबकर भी रहूँ योगमय,
विस्मरण हो कभी मित्र तेरा नहीं ॥२॥

विप्र हूँ, तो सुदामा मुझे लो बना,
दैन्य में सान्त्वना हो, नहीं यातना।

रह न जाये सखे एक भी एषणा,
होवे माया का मन में बसेरा नहीं।

(७४)

पवन-तनय, शक्तिचय, अनिल-रय, होओगे रघुवर-हृदय सदय कब ?
तुम्हें युगों से सुमिर रहा मैं, अजस्र मन्दिर से फिर रहा मैं
घुटन, निराशा से घिर रहा मैं, करोगे जग से मुझे अभय कब ?॥१॥

न बालपन में थी रीति जानी, भरी जवानी में थी गुमानी।
अभी हुईं इन्द्रियाँ पुरानी, मिला स्तवन का उचित समय कब ? ॥२॥

दिया विभीषण, सुकण्ठ को नय; हरी सिया; राम की विपद, भय
किया लखन को जिया निरामय, सुनोगे मेरी करुण विनय कब ?॥३॥

पड़ा हूँ मैं द्वेष राग के वश; रहा हूँ सह रोग, शोक, अपयश।
मिटी न ममता, अहं, विषय-रस; मिलेगी मन पर मुझे विजय कब ?॥४॥

तुम्हारे ही तो सहारे हारे अराति सारे सदा हमारे
भवाब्धि के हूँ खड़ा किनारे, मुझे बनाओगे राममय कब ? ॥५॥

राम क्या अभिशप्त धरती पर उतर इस
लोकहित अविराम संकट ही सहेंगे ?
प्रिय भरत उनकी अनन्त विपत्ति के ही स्रोत होंगे ?
और मंझली माँ बनेगी ही कभी निष्ठुर विमाता ?
राज तज वन में रहेंगे, जिस पिता की मान आज्ञा,
साथ दयिता, अनुज के भी,
उफ ! उसी की मृत्यु के अतिकरुण, अकरुण, हेतु होंगे, नहीं त्राता ?
अश्रु बरसाती, बिलखती, विकल माँ को भी तजेंगे ?
क्या उन्हें साहाय्य पाने के लिए या शरण देने के लिए ही शरणगत को,
बालि-वधहित रण नियम से विमुख भी होना पड़ेगा ?
राक्षसों का दूर करने के लिए उत्पात, भय क्या
राज-पद राक्षस विभीषण को स्वयं देना पड़ेगा ?
इन्द्रजित् के यज्ञ का विध्वंस भी होगा कराना,
लोक-रक्षा के निमित्त कलंक यह लेना पड़ेगा ?
अन्यथा निशिचर सतत जग को सताते ही रहेंगे ?
श्वशुर-गृह, पितृ-गेह तज जो साथ नित वन में रहेगी,
जिस प्रिया के हित दशानन से लड़ेंगे युद्ध भीषण,
उस पतिप्राणा सिया को विपिन-निर्वासित करेंगे ?
और नारी के लिए सब उन्हें अति निष्ठुर कहेंगे ?
एक मात्र सहाय स्वेच्छा से बने जो वन-विपद् के,
उस लखन को प्राणदण्डित, पुरबहिष्कृत या करेंगे ?
जनक, जननी, अनुज, जाया सब इन्हीं के
हेतु यों नित विविध पीड़ाएँ लहेंगे ?
मनुज-मर्यादा-निकष की स्थापना के अर्थ क्या फिर,
अश्रु आँखों का सुखा, हँस लोकरञ्जन-प्रण गहेंगे ?

मन तू काहे को होता उदास है,
चिर-सखा राम के जब तू पास है।
आधि जिसने थी गाधितनय की भी हरी,
स्पर्श से जिसके गौतमशिला भी तरी ?
चढ़ा शंकर का चाप अनायास है ॥१॥ मन तू० ॥

मान तात-वचन राज तजा, वन में रहे,
भूख प्यास, वृष्टि, ताप, शीत हँस-हँस सहे !
जिसका गार्हस्थ्य बना संन्यास है ॥२॥ मन तू० ॥

गीध, बानर, निषाद को लगाया गले,
खाये जूठे भी शबरी के बेर स्वाद ले।
मेटा दण्डक के मुनियों का त्रास है ॥३॥ मन तू० ॥

मार बाली को सुग्रीव का दुख हरा,
आ शरण में अनुज शत्रु का भी तरा।
हुआ संकटहरण जिसका दास है ॥४॥ मन तू० ॥

सेतु रच सब को सिन्धु अगम पार कराया।
वध से रावण के त्रिभुवन का ताप मिटाया।
गाता जस जिसका सारा इतिहास है,
जिसकी कण-कण में फैली सुवास है ॥५॥ मन तू० ॥

□

आचार्य (डॉ0) रामदेव त्रिपाठी

जन्म :

बिहार राज्य के पूर्वी चम्पारण जिला में अवस्थित गाँव तिवारी टोला (पत्रालय – पकड़ी अशोक, द्वारा—पिपरा कोठी) में २१ जून १९२१ ईसवी को। पिता पंडित श्रीगणेश दत्त शर्मा, व्याकरण-साहित्याचार्य, प्राचार्य, धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय, मोतिहारी। भ्राता पं० वेदप्रकाश त्रिपाठी व्याकरण-साहित्य-वेदान्त—धर्मशास्त्र-आयुर्वेदाचार्य, प्राचार्य, धर्मसमाज संस्कृत विद्यालय, मुजफ्फरपुर।

शिक्षा :

गुरुकुल पद्धति से अष्टाध्यायी, वेद, उपनिषद्, महाभाष्य आदि का अध्ययन। फिर संस्कृत की टोल पद्धति से १९३३ से ४१ तक अध्ययन और व्याकरण-साहित्याचार्य तथा न्यायशास्त्री की उपाधियाँ प्रथम श्रेणी में प्राप्त। फिर आधुनिक (अंग्रेजी) पद्धति से मैट्रिक (१९४३) से एम. ए. (संस्कृत) तक की पढ़ाई और प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान। पटना विश्वविद्यालय से १९६४ में हिन्दी में एम. ए. प्रथम श्रेणी तथा बिहार विश्वविद्यालय से १९६७ में डी. लिट्. की उपाधि 'भाषा विज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि' नामक शोध-प्रबन्ध पर।

कार्य :

१९४२ के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में सक्रिय योगदान और भूमिगत रहकर चम्पारण में आन्दोलन का संचालन। तीन प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं में अध्यापन—(१) अरेराज, संग्रामपुर और मोतिहारी के टोलपद्धति के संस्कृत महाविद्यालयों में प्राचार्य तथा व्याकरण-साहित्य के प्राध्यापक, (२) लंगट सिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर में व्याख्याता और (३) १९५४ से नेतरहाट विद्यालय, नेतरहाट (राँची) में अध्यापक जहाँ से १९७९ में प्राचार्य के रूप में सेवा-निवृत्त।

कृतियाँ :

प्रकाशित-काव्य : धर्मरथी (विभीषण विजय), सुमिरन (भोजपुरी की स्फुट कविताएँ), चतुष्पथ (मुक्तक, गीत), मनका।

आलोचना : हिन्दी भाषा का विकास, भाषा विज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि, हिन्दी भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषानुशान, माध्यमिक हिन्दी व्याकरण और रचना, संस्कृत शिक्षिका और भोजपुरी शब्दानुशासन।

बिहार राज्य पाठ्य पुस्तक निगम, पटना द्वारा प्रकाशित संस्कृत की तीसरी से लेकर दसवीं कक्षा तक की सभी पाठ्यपुस्तकों का लेखन या समीक्षण।

अप्रकाशित पुस्तकें : निबन्ध एवं आलोचना :

संस्कृत धातु पाठ, पाणिनि की भाषिक दृष्टि, समाज और साहित्य, वन्दे मातरम्।

काव्य : अतिरथी (अर्जुन विजय), आध्यान शतकम् (संस्कृत मुक्तक)।

विविध छन्दों के सफल प्रयोग आवर्जक हैं। अलंकारों की सार्थकता मन में रमने वाली है। और, पाण्डित्य और वैदग्ध्य का तो कहना ही क्या! रस भाव के निर्वाह में शास्त्रीयता अक्षुण्ण रही है। कवि की आस्था एवं प्राणवत्ता पर हमें भरोसा है।

—आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री
('धर्मरथी' की भूमिका में)

श्री रामदेव त्रिपाठी संस्कृत और हिन्दी के पारदृश्वा विद्वान् हैं। व्याकरण, दर्शन और साहित्य पर उनका अद्भुत अधिकार है। उनका ज्ञान केवल ग्रन्थाश्रित नहीं अपितु मौलिक चिन्तन से ऊर्जित है। किन्तु इससे भी बड़ी बात यह है कि उनके ज्ञान की आलोक-रश्मियों में सहृदयता की इन्द्रधनुषी रमणीयता है। उनमें उच्चकोटि की नैसर्गिक प्रतिभा है। व्युत्पत्ति का तो कहना ही क्या है? अभ्यास का क्रम उन्होंने कभी अवरुद्ध नहीं होने दिया है। इस प्रकार सत्कवित्व के सभी साधनों से समन्वित उनकी वाणी काव्य-रसिकों को आप्यायित करने में सर्वथा समर्थ है।

—आचार्य श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा
('चतुष्पथ' की 'आशंसा' में)